

Hkkie . Myhdj . k
df" k
vkj
Hkkj r

I fpu dekj tñ

Hkkstu dk vf/kdkj vfhk; ku I g; kxh I eig] e/; i nš k
b&7@226] i Fke ry] ¼kuollrjh dkei yDI ds I keu½ vjgk dkykuh] ' kkgi g k] Hkksi ky]
Oku % 0755 & 4252789 bl esy & rtfmp@rediffmail .com

1 [kk] | I g {kk dh vo/kkj .kk vkj df"k mRi knu

2 df"k I dfr I s vlu vl g {kk dk I c/k

3 df"k vkj Hke. Myhdj .k

4 t b çks| kfxdh ds [krjs

5 I dV dks vufr

6 vc D; ka gSchVh çku , d [krjk\

7 Hkkjr ea vUrjkzVh; foRrh; I dFkkuka dh I Ükk

8 0; oLFkk dks iHkkfor djus dh j .kuhfr

9 Hke. Myhdj .k vkj vUrjkzVh; foRrh; I dFkkuka dh jktuhfr

1 [kk | I j {kk dh vo/kkj .kk vkj d'f"k mRi knu

खाद्य सुरक्षा की अवधारणा व्यक्ति के मूलभूत अधिकार को परिभाषित करती है। अपने जीवन के लिये हर किसी को निर्धारित पोषक तत्वों से परिपूर्ण भोजन की जरूरत होती है। महत्वपूर्ण यह भी है कि भोजन की जरूरत नियत समय पर पूरी हो। इसका एक पक्ष यह भी है कि आने वाले समय की अनिश्चितता को देखते हुये हमारे भण्डारों में पर्याप्त मात्रा में अनाज सुरक्षित हों, जिसे जरूरत पड़ने पर तत्काल जरूरतमंद लोगों तक सुव्यवस्थित तरीके से पहुंचाया जाये। हाल के अनुभवों ने सिखाया है कि राज्य के अनाज गोदाम इसलिये भरे हुए नहीं होना चाहिए कि लोग उसे खरीद पाने में सक्षम नहीं हैं। इसका अर्थ है कि सामाजिक सुरक्षा के नजरिये से अनाज आपूर्ति की सुनियोजित व्यवस्था होना चाहिए। यदि समाज की खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित रहेगी तो लोग अन्य रचनात्मक प्रक्रियाओं में अपनी भूमिका निभा पायेंगे। इस परिप्रेक्ष्य में सरकार का दायित्व है कि बेहतर उत्पादन का वातावरण बनाये और खाद्यान्न के बाजार मूल्यों को समुदाय के हितों के अनुरूप बनाये रखे।

- मानव अधिकारों की वैश्विक घोषणा (1948) का अनुच्छेद 25 (1) कहता है कि *हर व्यक्ति को अपने और अपने परिवार को बेहतर जीवन स्तर बनाने, स्वास्थ्य की स्थिति प्राप्त करने, का अधिकार है जिसमें भोजन, कपड़े और आवास की सुरक्षा शामिल है।*
- खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) ने 1965 में अपने संविधान की प्रस्तावना में घोषणा की कि *मानवीय समाज की भूख से मुक्ति सुनिश्चित करना उनके बुनियादी उद्देश्यों में से एक है।*

[kk | I j {kk ds 0; kogkfj d i gyw

1. mRi knu— यह माना जाता है कि खाद्य आत्मनिर्भरता के लिए उत्पादन में वृद्धि करने के निरन्तर प्रयास होते रहना चाहिए। इसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के अनुरूप नई तकनीकों का उपयोग करने के साथ-साथ सरकार को कृषि व्यवस्था की बेहतरी के लिये पुननिर्माण की नीति अपनाना चाहिए।
2. forj.k— उत्पादन की जो भी स्थिति हो राज्य के समाज के सभी वर्गों को उनकी जरूरत के अनुरूप अनाज का अधिकार मिलना चाहिए। जो सक्षम है उसकी क्रय शक्ति बढ़ाने के लिए आजीविका के साधन उपलब्ध होना चाहिए और जो वंचित एवं उपेक्षित समुदाय हैं (जैसे— विकलांग, वृद्ध, विधवा महिलायें, पिछड़ी हुई आदिम जनजातियां आदि) उन्हें सामाजिक सुरक्षा की अवधारणा करवाना राज्य का अधिकार है।
3. vki krkdkyhu 0; oLFkk में खाद्य सुरक्षा समय की अनिश्चितता उसके चरित्र का सबसे महत्वपूर्ण है। प्राकृतिक आपदायें समाज के अस्तित्व के सामने अक्सर चुनौतियां खड़ी करती हैं। ऐसे में राज्य यह व्यवस्था करता है कि आपात कालीन अवस्था (जैसे— सूखा, बाढ़, या चक्रवात) में प्रभावित लोगों को भुखमरी का सामना न करना पड़े।

[kk | I j {kk ds rRo

1. mi yC/krk – प्राकृतिक संसाधनों से खाद्य पदार्थ हासिल करना—
 - सुसंगठित वितरण व्यवस्था
 - पोषण आवश्यकता को पूरा करना
 - पारम्परिक खाद्य व्यवहार के अनुरूप होना
 - सुरक्षित होना
 - उसकी गुणवत्ता का मानक स्तर का होना
2. i gpp &

- आर्थिक पहुँच— यह सुनिश्चित होना चाहिए कि खाद्यान्न की कीमत इतनी अधिक न हो कि व्यक्ति या परिवार अपनी जरूरत के अनुरूप मात्रा एवं पोषण पदार्थ का उपभोग न कर सके। स्वाभाविक है कि समाज के उपेक्षित और वंचित वर्गों के लिये सामाजिक सुरक्षा योजनाओं के जरिये खाद्य सुरक्षा उपलब्ध कराई जाना चाहिए।
- भौतिक पहुँच— इसका अर्थ यह है कि पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न हर व्यक्ति के लिये उसकी पहुँच में उपलब्ध होना चाहिए। इस सम्बन्ध में शारीरिक-मानसिक विकालांगों एवं निराश्रित लोगों के लिए पहुँच को सुगम बनाना जरूरी है।

[kk | klu mRi knu es of) vkj xjhch

भारत में 1960 के दशक के मध्य से गरीबी के स्तर में एक औसत और निश्चित गिरावट दर्ज की गई है। इसके बावजूद सरकार की नवीनतम घोषणा के मुताबिक देश की 26 फीसदी आबादी गरीबी की रेखा के नीचे है; हालांकि इस आंकड़े को कई स्तरों पर चुनौती दी गई। इससे यह स्पष्ट होता है कि देश में चार गुना उत्पादन बढ़ने के बाद भी लोगों की रोटी का सवाल ज्यों का त्यों बना हुआ है। हम अब भी लोगों की खाद्यान्न सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करने की स्थिति में नहीं हैं। स्वाभाविक रूप से देश का अनुभव यह सिद्ध करता है कि खाद्य उत्पादन की वृद्धि का सीधा सम्बन्ध समाज की खाद्य सुरक्षा की स्थिति से नहीं है और यह स्वीकार करना पड़ेगा कि देश के उत्पादन में जो वृद्धि हुई है उसमें गैर खाद्यान्न पदार्थों का हिस्सा बहुत ही चिंतनीय ढंग से बढ़ा है जैसे— तेल, शक्कर, दूध, मांस, अण्डे, सब्जियाँ और फल। ये पदार्थ अब लोगों के कुल उपभोग का 60 फीसदी हिस्सा अपने कब्जे में रखते हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम चाहते हैं कि लोगों तक खाद्य पदार्थों की सहज पहुँच हो तो इन गैर खाद्यान्न पदार्थों के बाजार को नियंत्रित करना होगा। यह महत्वपूर्ण है कि 1951 से 2001 के बीच में देश में खाद्यान्न उत्पादन में चार गुना बढ़ोत्तरी हुई है पर गरीब की खाद्य सुरक्षा अभी सुनिश्चित नहीं हो पायी है।

[kk | klu vkj nky dh | dy mi yC/krk

o"kl	i fr 0; fDr , dy mi yC/krk %xke ifrnu%			[kk ry	ouLi fr	kDdj
	vukt	nky	dy [kk klu	%dykxke%	%dykxke%	%dykxke%
1951	334.2	60.7	394.9	2.5	0.7	5.0
1961	399.2	69.0	468.7	3.2	0.8	4.8
1971	417.3	51.2	468.8	3.5	1.0	7.4
1981	417.3	37.5	454.8	3.8	1.2	7.3
1991	435.3	41.1	476.4	5.3	1.1	12.3
1992	468.5	41.6	510.1	5.5	1.0	12.7
1993	434.5	34.3	468.8	5.4	1.0	13.0
1994	427.9	36.2	464.1	5.8	1.0	13.7
1995	434.0	37.2	471.2	6.1	1.0	12.5
1996	457.6	37.8	495.4	6.3	1.0	13.2
1997	443.4	32.8	476.2	7.0	1.0	14.1
1998	448.2	37.3	505.5	8.0	1.0	14.6
1999	417.3	33.0	450.5	6.2	1.0	14.6
2000	433.5	36.9	470.4	8.5	1.3	14.6
2001	426.0	32.0	458.0	9.1	1.3	15.6
2002	390.6	26.4	417.0	8.0	1.4	15.8

(स्रोत: भारत सरकार का आर्थिक सर्वेक्षण)

2003 सरकार ने 21 करोड़ अन अनाज उत्पादन होने के बाद पूरी दुनिया के सामने घोषणा कर दी थी कि भारत खाद्यान्न के मामले में अब आत्म निर्भर हो गया है। परन्तु इसी दौर में कुछ चौंकाने वाले आंकड़े भी सामने आते हैं। 1980 की तुलना में 1990 के दशक में कृषि उत्पादन में कमी दर्ज की गई। जहां 1980 के दशक में उत्पादन वृद्धि की दर 3.54 प्रतिशत थी वहां 1990 के दशक में घटकर 1.92 प्रतिशत पर आ गई। इतना ही नहीं उत्पादन की दर पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा, यह दर 1980 के 3.3 प्रतिशत से घटकर 1990 के दशक में 1.31 प्रतिशत हो गई है। बहुत संक्षेप में यह जान लेना चाहिये कि 1960 के दशक में हरित क्रांति के दौर में किसानों ने उच्च

उत्पादन क्षमता वाले बीजों, रासायनिक ऊर्वरकों, कीटनाशकों और मशीनों का उपयोग करके प्रगति की तीव्र गति का जो रास्ता अपनाया था अब उसके नकारात्मक परिणाम आने शुरू हो गये हैं। इन साधनों से न केवल मिट्टी की उर्वरता कम हुई बल्कि कृषि की पारम्परिक व्यवस्था का भी विनाश हुआ है। अगर हमने इतना विकास किया है कि उत्पादन 5 करोड़ टन से बढ़कर 20.11 करोड़ टन हो गया तो प्रति व्यक्ति खाद्यान्न उपलब्ध 1951 में 394.9 ग्राम प्रति व्यक्ति से बढ़कर केवल 417.0 ग्राम तक ही क्यों पहुंच पाई ?

1972-73 से 1999-2000 की समयावधि में अनाज के प्रति व्यक्ति उपभोग में कमी आई है। जहां 1972-73 में प्रति व्यक्ति प्रतिमाह 15.3 किलोग्राम अनाज को उपभोग होता था, अब वह घटकर 12.22 किलोग्राम प्रतिमाह आ गया है।

अब सवाल केवल यहीं तक सीमित नहीं है। एक वर्ग दावा कर सकता है कि आज लोग अण्डे और मांस खा रहे हैं और दूध पी रहे हैं तो अनाज उपभोग में गिरावट चिन्ता का विषय नहीं होना चाहिए। पर अब भी एक पक्ष अभी उल्लेखनीय है और वह पक्ष है कैलोरी उपभोग का, जिससे तय होता है कि व्यक्ति को कितना पोषण आहार मिल रहा है।

व्यक्ति के प्रकार के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रतिमाह का अनाज उपभोग (ग्राम)

वर्ग	1972&73	1977&78	1983&84	1993&94	1999&2000
निम्न वर्ग	1504	1630	1620	1678	1626
मध्यम वर्ग	2170	2296	2144	2119	2009
उच्च वर्ग	3161	3190	2929	2672	2463
औसत	2268	2364	2222	2152	2030

स्पष्ट है कि निम्न और मध्यम वर्ग यानी आबादी का 70 प्रतिशत हिस्सा अभी अपने भोजन से न्यूनतम कैलोरी हासिल नहीं कर पा रहा है। जबकि यही गरीबी को मापे जाने का सबसे अहम सूचक है।

उत्पादन बढ़ा, लोगों तक नहीं पहुंचा, और लोग भूख से मरे, यह सब कुछ सही है। पर इसके साथ ही एक और पक्ष भी है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है और वह पक्ष है जीवन निर्वाह की पारम्परिक अर्थ व्यवस्था का। समाज का एक हिस्सा अपनी जरूरत का खाद्यान्न बाजार से नहीं खरीदता था वह या तो पैदा करता था या संग्रहित करता था। परन्तु अब हर कोई बाजार के हवाले है। आर्थिक लाभ कमाने के लिये छोटे-छोटे किसानों ने भी खाद्यान्न की फसलों को छोड़कर नकद आर्थिक लाभ देने वाली फसलों पर ध्यान केन्द्रित किया और विपरीत परिस्थितियों में बमुश्किल अपना अस्तित्व बचा पाये। क्या एक बार फिर खाद्य सुरक्षा की पारम्परिक व्यवस्था पुर्नजीवित हो पायेगी।

खाद्य सुरक्षा की दृष्टि से खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाना आवश्यक है। आंकड़ों से स्पष्ट है कि 1995-56 के

दौरान खाद्यान्नों का औसत वार्षिक आयात 23 लाख टन था, जो 1961-62 से 1965-66 के दौरान बढ़कर 51 लाख टन हो गया और 1966-67 से 1970-71 के दौरान अपने चरम स्तर तक पहुंच कर 64 लाख टन हो गया। इसके पश्चात् 1971-72 से 1975-76 के दौरान यह कम होकर 36 लाख टन हो गया। इसके बाद के 21 वर्षों में खाद्य आयात नाम मात्र रहे अर्थात् 5 से 18 लाख टन के बीच कुल शुद्ध देशीय उपलब्धि के 1 से 1.5 प्रतिशत। 1996-97 के पश्चात् भारत अनाजों का शुद्ध निर्यातक बन गया।

अनाजों और दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि के आंकड़ों से संकेत मिलता है कि 1950-51 से 1955-56 के दौरान खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि 419 ग्राम प्रतिदिन थी जो 1996-97 और 2000-01 के दौरान बढ़कर 451 ग्राम हो गई। इससे स्पष्ट होता है कि 50 वर्षों की अवधि में खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में लगभग 15 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके दो अंग हैं – अनाज और दालें। अनाजों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि जो 1950-51 और 1955-56 के दौरान 34 ग्राम प्रतिदिन थी बढ़कर 1996-97 और 2000-2001 के दौरान 418 ग्राम हो गई।

इस प्रकार 50 वर्षों की अवधि में प्रति व्यक्ति अनाज उपलब्धि में 22 प्रतिशत की वृद्धि हुई। किन्तु दालों के संदर्भ में प्रति व्यक्ति उपलब्धि जो 1950-51 और 1955-56 के दौरान 65 ग्राम प्रतिदिन थी गिरकर 1996-97 और 2000-2001 के दौरान 3.3 ग्राम हो गई। जाहिर है कि 50 वर्षों की अवधि में दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में 49 प्रतिशत की गिरावट हुई। नौवीं पंचवर्षीय योजना ने इस बात पर बल देते हुए उल्लेख किया: 'दालों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में कमी के परिणामस्वरूप प्रोटीन के उपभोग पर दुष्प्रभाव पड़ सकता है। मोटे अनाज जो कम मंहगे हैं उतनी ही लागत के लिए कहीं अधिक कैलोरी उपलब्ध करा सकते हैं। यदि इन्हें सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर सहायित दरों (subsidized rates) पर उपलब्ध कराया जाए तो वे स्वयं-लक्षित बन सकेंगे और इनसे कैलोरी उपभोग उन्नत हो सकता है और इससे जनसंख्या के निर्धानतम भाग में 'भूख' कम की जा सकती है। इस वितरण से स्पष्ट है कि भारत खाद्य सुरक्षा की ओर बढ़ता हुआ अनाजों के रूप में तो सफल हुआ है किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या की दालों संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने में बुरी तरफ विफल हुआ है।

dY; k.kdkjh jkT; ea vllu l j {kk

'हर भूखे पेट को रोटी और हर हाथ को काम' का प्रचलित राजनैतिक वायदा यथार्थ के धरातल पर क्या रूप ले बैठा है, यह जानना हो तो भोपाल के नजदीक विदिशा जिले के खजूरी गांव के दरयाव सिंह इसके मानवीय उदाहरण हैं; वे अपनी दो साल की बेटी को दो दिन तक सांवा घास की रोटी खिलाते रहे। नतीजतन, तीसरे ही दिन उनकी लाड़ली बिटिया भगवान को प्यारी हो गई। पंचायती राज और ग्राम स्वराज की आदर्श व्यवस्था से सुसज्जित मध्यप्रदेश में आखिर ऐसी स्थिति निर्मित क्यों हुई जिसमें बच्चों को भी जीवन बचाये रखने लायक अन्न नसीब नहीं हो पा रहा है? इस संदर्भ में दो बिन्दु सबसे महत्वपूर्ण हैं— पहला, कल्याणकारी राज्य का सबसे सकारात्मक चरित्र यही माना जाता है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज के सभी लोगों को जीवन के समान अवसर उपलब्ध होते हैं, और दूसरा, व्यवस्था कोई भी नीति समाज के सबसे उपेक्षित और पंक्ति में सबसे पीछे खड़े व्यक्ति के हितों को ध्यान में रखकर बनाती है। स्वाभाविक है कि यदि अंतिम व्यक्ति को ध्यान में रखकर कोई नीति बनाई जाये तो वास्तव में कल्याणकारी राज्य की स्वीपना का दावा किया जा सकता है। मध्यप्रदेश में चूंकि ऐसा नहीं हुआ है, अन्ततः इसका अर्थ यही है कि समाज का उपेक्षित वर्ग अभी भी उपेक्षा और भेदभाव का शिकार निरंतर हो रहा है।

निःसंदेह यह संकट की घड़ी है, परन्तु संकट इतना गहराया भी नहीं है कि लोग भूख से मरने लगें। यदि लोग भूख से मर रहे हैं तो इसका सीधा अर्थ यह है कि उन्हें भूख से मारा गया है। उनके हिस्से का अनाज उनसे छीन लिया गया। मध्यप्रदेश में भी अन्न सुरक्षा की असफल कोशिश की जाती रही है जिसके अन्तर्गत यह प्रावधान है कि हर गांव में ग्रामसभा के कोषाध्यक्ष और सरपंच के अधीन दो क्विंटल गेहूं (केवल गेहूं ही अन्न सुरक्षा का मापदण्ड है?) रखा जायेगा। कोषाध्यक्ष गांव के ऐसे निःशक्त, बेसहारा और वृद्ध लोगों को भूख मिटाने के लिये निःशुल्क अनाज मुहैया करायेगा। यह सहायता ऐसे लोगों को ही दी जा सकेगी जिन्हें किसी पेंशन या अनुदान योजना का लाभ न मिल रहा हो। जबकि वास्तविकता का धरातल बड़ा ही कठोर है। समस्या तो यही है कि गांवों के कई निःशक्तों, वृद्धों और बेसहारा लोगों के नाम योजनाओं के कागजों में दर्ज हैं परन्तु योजना का लाभ उनसे कोसों दूर है। इसके साथ ही मसला यह भी महत्वपूर्ण है कि जब हर गांव में इतने अनाज की हरदम व्यवस्था मौजूद है तो गांवों की तीस फीसदी आबादी रोज भूखी क्यों सोती है? अनुभव इस सवाल का जवाब यही देता है कि या तो गांव तक अनाज पहुंचा ही नहीं है या फिर इसके वितरण के लिये अधिकृत व्यक्ति ने अनाज का वितरण ही नहीं किया। विगत तीन माहों में ही सत्रह प्रकरण ऐसे सामने आये हैं जिनमें सरपंचों को सरकारी योजनाओं का अनाज खुले बाजार में बेंचते हुये पाया गया है। ये संख्या तो बहुत कम है, सच्चाई इससे कहीं ज्यादा भयावह है।

वर्तमान में समाज जिस स्थिति का सामना कर रहा है उसमें अन्न असुरक्षा का कारण अन्न की कमी नहीं बल्कि अन्न से जरूरतमंद की दूरी है। निश्चित रूप से बाजार में उतार-चढ़ाव को महत्व देने वाली सरकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती है कि वह भूख से तड़पते लोगों के लिए अनाज से भरे गोदामों के दरवाजे खोल दे। ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि बाजार की कीमतें गिर जायेंगी और व्यापारियों को नुकसान उठाना पड़ेगा जो सरकार कत्तई नहीं चाहेगी। सरकार भूखों को अनाज तो देगी क्योंकि यह उसका संवैधानिक कर्तव्य है, परन्तु इसके लिये वह पूरी कीमत वसूल करेगी यानी काम के बदले अनाज। इस तरह समाज के उपेक्षित वर्ग को कितना ही अनाज

क्यों न उपलब्ध करा दिया जाये, उस स्थिति को नैतिक आधारों पर अन्न सुरक्षा की स्थिति नहीं माना जाना चाहिए। क्योंकि यहां सरकार किसी गरीब की जीने के लिये बुनियादी जरूरत को पूरा करने की मजबूरी का फायदा उठाती नजर आती है।

यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि अन्न सुरक्षा का प्रश्न गरीबों के लिये सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है और विडम्बना यह है। कि गरीब ही राजनीति की बिसात और व्यवस्थागत भ्रष्टाचार का सबसे ज्यादा शिकार होता है पिछले तीन वर्षों से सूखे के कारण लगातार विपन्न तबकों के लिये संकट की स्थिति निर्मित होती रही है क्योंकि रोजगार या जीवन यापन के लिये उनके सारे विकल्प, चाहे वह मजदूरी हो या फिर खेती, सूखे के शिकार हुये हैं, तो वहीं दूसरी ओर राज्य और केन्द्र सरकारें ऐसी अवस्था में भी दलीय राजनीति करने से पीछे नहीं हटना चाहती हैं। राज्य मध्यप्रदेश हो, या राजस्थान को यह मानने को तैयार नहीं है कि लोग भूख से मर रहे हैं। बहरहाल किसी भी किस्म की सहायता के मौके पर वे यह जताना जरूर नहीं भूलते हैं कि चूंकि केन्द्र में दूसरी पार्टी की सरकार है और शीघ्र ही हमारे राज्य में चुनाव होने वाले हैं। इसलिये राज्य सरकार को बदनाम करने की साजिश रची गई है।

गरीब को भूख की मार कदम-कदम पर मारती है। पहली मार तो नीति के स्तर पर ही पड़ती है, जिसे बनवाने या बदलवाने में उसका कोई दखल नहीं है, फिर वितरण की प्रक्रिया से वह जूझता है, जहां दिल्ली से शुरू होकर अनाज, राज्य की राजधानी, राजधानी से संभाग, फिर जिला और जनपद पर पहुंचता है। जनपद से वितरण केन्द्र और वितरण केन्द्र से उचित मूल्य की दुकान तक पहुंचता है। इस दुकान से अधिकृत गरीब को कम मूल्य पर अनाज (गुणवत्ता का कोई प्रश्न यहां स्वीकार्य नहीं है) उपलब्ध कराये जाने का प्रावधान है ताकि भुखमरी जैसी स्थिति निर्मित न हो। सरकार ने इस व्यवस्था के इतने बुरे हाल किये कि सर्वोच्च न्यायालय को इसके संदर्भ में कड़े निर्देश देने पड़े। न्यायपालिका मानती है कि उचित मूल्य की दुकानें गरीबों की पहुंच में होना चाहिए, उनकी सुविधा के अनुसार ही दुकान के खुलने का समय तय होना चाहिए, परन्तु वास्तविकता के धरातल पर मामला कुछ ओर ही है। गुना जिले में ऊमरी की उचित मूल्य की दुकान से आठ पंचायतें सम्बद्ध हैं, जिनके अन्तर्गत 1589 परिवार गरीबी की रेखा के नीचे दर्ज हैं जिनके लिये दुकान को 30 किलो अनाज प्रति परिवार के आधार पर 438.60 क्विंटल गेहूं आवंटित किया जाना चाहिए। परन्तु उस केन्द्र को मात्र 100 क्विंटल आज ही उपलब्ध कराया जा रहा है। ठीक यही चित्र राज्य के स्तर पर भी है जहां कुल जरूरत का पचास फीसदी अनाज ही केन्द्र सरकार से उठाया जा रहा है।

इसके बारे में राज्य के सलाहकार कहते हैं कि यह मसला 'अनाज के अर्थशास्त्र' से जुड़ा हुआ है। जिसके अन्तर्गत दो बिन्दु महत्वपूर्ण हैं पहला— लोग गरीब होने के बावजूद उचित मूल्य की दुकान से अनाज नहीं लेते हैं, इसलिये हम भी जरूरत से कम अनाज ही उठाते हैं। आमतौर पर सरकार जरूरत का साठ फीसदी अनाज तक ही उठाती है। परन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि सरकार ने यह जानने का प्रयास नहीं किया कि निम्नतम गरीबी की स्थिति में जी रहा व्यक्ति भी सस्ता सरकारी अनाज क्यों नहीं ले पा रहा है ? ऊमरी के अध्ययन से पता चला कि उस दुकान तक पहुंचना ही गरीब के लिये एक बड़ी चुनौती है क्योंकि नानीपुरा गांव से यह दुकान 9 किलोमीटर दूर है और वहां तक आने-जाने के लिए 11 रुपये खर्च करने पड़ते हैं। मध्यप्रदेश में 1092 दुकानें ऐसी हैं जो गांव से 5 किलोमीटर दूर हैं। दूसरी बात यह है कि ये दुकानें ऐसे समय में खुलती हैं जब गरीब आदमी को मजदूरी के लिये जाना पड़ता है या फिर दुकान कब खुली है या वहां आज कब उपलब्ध होगा, यह पता चल पाना भी चुनौतीपूर्ण कार्य है।

कई कारणों से समाज अन्न के मामले में असुरक्षित हो गया है परन्तु उसका प्रभाव बच्चों पर बहुत गहरा पड़ा है। आज बच्चे बहुत ही दयनीय अवस्था में जन्म ले रहे हैं, गरीबी के कारण माँओं को देखभाल की सुविधा नहीं मिल पा रही है। यही कारण है कि प्रदेश में मातृ मृत्यु दर 711 प्रति लाख के स्तर पर पहुंच चुकी है। राज्य ने बच्चों को भी बेहतर और जीवनोपयोगी आहार मिले इसके लिये मध्याह्न भोजन योजना लागू की परन्तु इसके अन्तर्गत तय की गई पात्रता से भी स्थिति गंभीर हुई है इसके अनुसार स्कूल में मध्याह्न भोजन उन्हीं बच्चों को दिया जायेगा जिनकी उपस्थिति अस्सी फीसदी या इससे अधिक होगी, इस पात्रता के कारण गरीब वर्ग के 50 फीसदी गंभीर रूप से कुपोषित बच्चों को इस भोजन का लाभ नहीं मिल पा रहा है, जो कि इसके लिये वास्तविक पात्र हैं।

चूंकि सरकार राज्य में मुफ्त अनाज की व्यवस्था नहीं करवा रही है इसलिये हर परिवार के लिये रोजगार की उपलब्धता सुनिश्चित करना उसकी जिम्मेदारी है ताकि लोग अपने परिवार का उदर-पोषण कर सकें। इसके लिये सरकार को प्रतिदिन 36 लाख मानव दिवस रोजगार सृजित करने की जरूरत है जबकि सरकार के किसी कदम से ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि वह इतने रोजगार सृजित करने का प्रयास कर रही है। राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्र सरकार ने सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना के तहत प्रतिवर्ष 100 करोड़ मानव दिवस रोजगार पैदा करने का लक्ष्य घोषित किया है। यदि यह लक्ष्य हासिल कर भी लिया जाये तो भारत में गरीबी की रेखा के नीचे के पाँच करोड़ परिवारों (26.6 करोड़ व्यक्तियों) के लिए वर्ष में सिर्फ 20 दिन का रोजगार ही पैदा हो पायेगा यानी एक माह में 1.66 दिन का काम। मध्यप्रदेश में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों के लिये 36 करोड़ मानव दिवस की कम से कम जरूरत है जबकि व्यवस्था केवल 27 लाख दिवस की हो रही है।

नई परिस्थितियों में काम के अधिकार का हनन बहुत ही गंभीर रूप लेता जा रहा है। सरकार ने रोजगार पैदा करने वाली कई योजनाओं को मिलाकर सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (एस जी आर वाय) को इस दावे के साथ पेश किया है कि इससे वे गरीब आदमी को काम का अधिकार उपलब्ध करा पायेंगे। इससे जुड़ी वास्तविकता कुछ और ही है। एस जी आर वाय योजना के अन्तर्गत विभिन्न निर्माण कार्यों में गरीबी में जीवन यापन करने वाले लोगों को सर्वोच्च प्राथमिकता के साथ रोजगार उपलब्ध कराने का प्रावधान किया गया, परन्तु ग्रामीण स्तर पर इस योजना के अन्तर्गत गैर-गरीबों को ज्यादा महत्व दिया जा रहा है और जरूरतमन्द अभी भी उपेक्षा का दंश झेल रहे हैं। आंकड़ों में तो वे बेहतर स्थिति में नजर आने लगते हैं, इस विसंगति के कारण वे नई योजनाओं के दायरे से भी बाहर हो जाते हैं। स्वाभाविक तौर पर जब तक काम के बुनियादी अधिकार की सुनियोजित व्यवस्था नहीं हो पाती है तब तक अन्न सुरक्षा की स्थिति की कल्पना भी संभव नहीं है। सम्पन्नता की कहानियों का केन्द्र रहा हमारा समाज ऐसी स्थिति का सामना करेगा, किसी कहानी में भी ऐसी कल्पना नहीं की गई होगी परन्तु हम स्वयं व्यवस्था को जरिया बनाकर इतनी विसंगतियाँ पैदा कर लेंगे। इसकी तो शायद हमें स्वयं भी कल्पना नहीं थी, फिर अन्न सुरक्षा का प्रश्न खड़ा कैसे होता?

2 df"k | Łdfr | s vlu vl g {kk dk | æ/k

यह प्रश्न अभी भी महत्वपूर्ण है कि आज किसी भी नजरिये से सामान्य समुदाय अन्न के मामले में सुरक्षित क्यों नहीं है? कृषि आधारित अर्थव्यवस्था से मुंह मोड़कर सरकार ने ही इस असुरक्षा को विकराल संकट का रूप दे दिया है और अब इसका औद्योगिकीकरण करके इसे अस्तित्व के संकट का रूप दिया जा रहा है। हमें उत्पादन के आंकड़ों की बाजीगरी से मुक्त हो कर इस बात को ईमानदारी से स्वीकार करना होगा कि विगत दस वर्षों में जबसे भूमण्डलीकरण और मुक्त अर्थव्यवस्था का प्रयोग शुरू हुआ है तब से किसान और उसकी किसानी दोनों को नित नई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। सबसे पहली चुनौती तो फसलों के चयन में आये परिवर्तन के रूप में सामने खड़ी हुई। भारतीय समाज के लिये कृषि कोई व्यवसाय नहीं बल्कि संस्कृति के मायने रखती है। इसके प्रति लालच नहीं बल्कि श्रद्धा का नजरिया रखा जाता रहा है परन्तु बहुत ही सुनियोजित ढंग से किसान को लालची व्यापारी बना दिया गया। पहले समाज को अन्न सुरक्षा प्रदान करने वाली ज्वार, बाजरा, मक्का, तिल, कोदो, कुटकी, तुअर, उड़द और चना जैसी फसलों को प्राथमिकता दी जाती रही थी। ये फसलें कीटनाशक, उर्वरक और अधिक पानी की जरूरत के भारी खर्चों से मुक्त फसलें तो थी ही, साथ में तीन-चार साल के सूखे से निपटने की क्षमता भी उनमें थी; परन्तु किसान को यह समझाया गया कि विश्व बड़ा व्यापक है और नकद फसलों से ज्यादा आय प्राप्त करके वह विश्व की व्यापकता को भोग सकता है। परिणाम स्वरूप किसान समाज ने सोयाबीन, कपास और गन्ना जैसी नकद फसलों को सिर-आँखों पर बिठा लिया। फिर नकद फसलों के बढ़ने से खाद्य सुरक्षा देने वाली फसलों के रकबे में 50 फीसदी तक की कमी आई और सरकार ने भी उन पर सब्सिडी देना बंद कर दिया जिससे ऐसी फसल लेने वाले किसान भी लाचार हो गये। शुरू के कुछ वर्ष जब तक मिट्टी की ऊर्वरता बनी रही, बारिश समय पर पर्याप्त मात्रा में होती रही तो किसान को लाभ होता रहा। परन्तु इन फसलों का असली चेहरा वैसा नहीं था जैसा शुरूआती छह-सात वर्षों में नजर आया। इन फसलों ने भूमि की ऊर्वरता को नष्ट किया, जमीन की नमी चुरा ली, भू-जल स्तर को 400 फिट गहरे तक उतार दिया, बाजार भी चूँकि नियंत्रण से मुक्त है इसलिये वहां भी किसान को कीमतों की मार झेलनी पड़ी।

महात्मा गांधी ने एक बार उल्लेख किया था कि गंगा का मैदान इतना उपजाऊ है कि वह पूरी दुनिया के लोगों की अन्न सम्बन्धी जरूरतों को पूरा कर सकता है परन्तु आज किसान अपने परिवार की जरूरतों को ही पूरा नहीं कर पा रहा है। इसके बाद दूसरी चुनौती सामने खड़ी हुई नये किस्म के बीजों, ऊर्वरकों एवं रासायनिक कीटनाशकों के रूप में। शुरू-शुरू में तो इन कृत्रिम ऊर्वरकों एवं कीटनाशकों ने अपना प्रभाव दिखाया परन्तु फिर उनका प्रभाव भी धीरे-धीरे समाप्त हो गया। नई सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत अन्न सुरक्षा को तीसरी चुनौती का सामना करना पड़ा निरन्तर छोटी होती जोतों के रूप में। जैसे-जैसे समाज तरक्की करता गया वैसे-वैसे लोगों की जरूरतों ने रूप बदलना शुरू कर दिया। वर्ष 1981 से वर्ष 2001 के बीच जोतों के औसत आकार में 40 फीसदी का अंतर आया है यानी दस बीघे के खेत के आकार अब छह बीघे के रह गये हैं। 1996 में किये गये एक अध्ययन से भी यह चौंकाने वाला निष्कर्ष सामने आया है कि पांच एकड़ के खेत का मालिक यदि आज केवल खेती के विकल्प पर आश्रित है तो वह चार वर्ष में अपने खेत को खोकर दस हजार रुपये का कर्जदार बन जायेगा। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल रहें, यानी पर्याप्त बारिश हो, उपजाऊ मिट्टी, हो समय पर बुआई हो, भरपूर कीटनाशकों का प्रयोग किया जाये तब एक एकड़ के खेत से वर्ष में 10 से 12 हजार रुपये की आय की अपेक्षा की जा सकती है, अन्यथा घाटा ही नियति है।

इसका बहुत साफ कारण यह है कि अब खेती की लागत बहुत ज्यादा हो गई है और बाजार पर व्यापारियों का कब्जा है, इतना ही नहीं नीतियाँ भी किसान को नहीं बल्कि पूंजीपतियों को संरक्षण प्रदान करती हैं। यही कारण है कि 20 एकड़ के खेत के मालिक भी आज जहां-तहां हमें मजदूरी करते मिल जायेंगे।

अब एक बार पुनः अपनी पुरानी सामाजिक व्यवस्था के सांस्कृतिक पहलुओं का स्मरण करना लाजिमी हो जाता है क्योंकि गांव का अन्न के मामले में सुरक्षित होना आर्थिक कम, सामाजिक सम्मान का ज्यादा महत्वपूर्ण मामला है। कुछ दशक पहले तक मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, राजस्थान (वे राज्य जो बीमारू राज्य कहलाते हैं) के गांवों में कृषि आधारित व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर और किसान के बीच एक मानवीय सम्बन्ध था। यदि किसी किसान के

खेत में काम करने वाला मजदूर भूखा सोता था तो उसकी सार्वजनिक निंदा होती थी और पंचायत के नियमानुसार उसके यहां कोई मजदूर काम करने नहीं जाता था, तब उस किसान को 16 गांव दूर जाकर मजदूर लाने पड़ते थे। इसके बाद दूसरा मसला मजदूरी के भुगतान से जुड़ा हुआ है। हमारे पारम्परिक समाज में मजदूरी को मुद्रा में न मापकर अनाज और जीवन की बुनियादी जरूरतों की सामग्री से मापा जाता था। फिर 1970 के दशक में इस सम्बन्ध में व्यापक परिवर्तन आया और कृषि मजदूर को मुद्रा में भुगतान किया गया क्योंकि ऐसा करना भू-स्वामी के लिए ज्यादा लाभदायक होता था। तत्पश्चात श्रेशर मजदूर की मजदूरी पर भारी पड़ा और ये अवसर भी धीरे-धीरे खत्म होने लगे।

इस तरह कृषि मजदूर ही नई सामाजिक व्यवस्था का शिकार नहीं हुआ बल्कि सेवा आधारित रोजगार, जैसे नाई, खवास, दाई, लुहार, बढ़ई, सुतार, से जुड़े समुदायों को भी भूख के अनुभवों से दो-चार होना पड़ा क्योंकि अब उन्हें अन्न से सम्बन्धित सामाजिक सुरक्षा नहीं मिल रही, जो पहले एक मानवीय आधार पर अन्य वर्गों से उन्हें मिला करती थी। नये परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज को अब शायद ज्यादा गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ेगा क्योंकि पर्यावरण के विनाश, फसल चक्र में बदलाव, किसानों की कमजोर होती स्थिति, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बढ़ते दबाव और किसानों के प्रति सरकार के उदासीन होते रवैये के कारण ऐसा लगता है कि निकट भविष्य में केवल ऐसी ही फसलों को प्रोत्साहन दिया जायेगा जिनका कई चरणों में उपयोग किया जा सकेगा, जैसे- सोयाबीन का सोयातेल, मिल्क बड़ी और केक बनाने में किया जाता है, गन्ने से गुड भी बनता है, शक्कर भी और शराब भी, इतना ही नहीं उसका कचरा भी उपयोग में लाया जाने लगा है। परन्तु संकट इस बात का है कि समाज इसके लिये क्या-क्या कीमतें चुकायेगा.....। पर्यावरण की कीमत, रोजगार की कीमत और अब समाज में व्याप्त होती अन्न असुरक्षा। मसला अभी भी गंभीर है क्योंकि अपने बदलते व्यवहार के कारण जो स्थिति निमित्त हुई है उससे निपटने के ईमानदार रणनीति के बजाये हम फौरी तौर पर उसे नकारने के प्रयास में जुटे हुये हैं। सूखा एक ऐसी ही चुनौती है। सरकार और समाज दोनों इसे एकाकी समस्या के रूप में देख रहे हैं और पानी बचाने का मंत्र जप रहे हैं जबकि धरती की सतह से गायब हो चुकी मिट्टी, जंगलों के कटने से नग्न हुई धरती और तेजी से मर रहे पशुओं की ओर अभी भी उतनी गंभीरता के साथ ध्यान नहीं दिया जा रहा है। आने वाले वर्षों में पशुधन का अभाव हमें दुख देने के लिये काफी होगा।

tehu | s dV dj 'kq gpk vflrRo dk | 2k"K

अब विनाश को दर्शाने वाले तथ्य हमारे लिये चिंता का विषय नहीं बनते हैं बल्कि हम उनका उपयोग अपनी बात को रोचक बनाने के लिये करते हैं। शायद यह तथ्य भी हमें रोचक लगेगा कि हाल ही में न्यूजीलैण्ड के साथ भारत का एक समझौता हुआ है, जिसके तहत न्यूजीलैण्ड की संस्थायें भारत में 50 पैसे किलो लहसुन, 8 रुपये किलो दूध और वर्ष भर डेढ़ रुपये किलो टमाटर उपलब्ध करवायेंगी। यह पढ़ कर किसी के चेहरे पर चमक आ सकती है किन्तु इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि भारत के किसानों को जब अपना अस्तित्व बचाने के लिये बेहतर विकल्प खोजने होंगे। निःसंदेह हमें उस बहुपक्षीय पृष्ठभूमि की चर्चा भी करनी होगी जिसके कारण यह विनाशकारी स्थिति निर्मित हो रही है।

बुनियादी बात केवल इतनी सी है कि भारत में जैसे-जैसे खेती के पारम्परिक तरीकों की उपेक्षा हुई वैसे-वैसे रासायनिक खेती ने अपनी जड़ें जमाना शुरू कर दी और आज 2001 में इसने न केवल उत्पादन को नकारात्मक रूप से प्रभावित किया है बल्कि पेयजल एवं सिंचाई के स्रोतों को भी अपनी गिरफ्त में ले लिया है। आज मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और आंध्रप्रदेश के किसान इस बात को अनुभव कर रहे हैं कि रासायनिक पदार्थों के उपयोग के कारण वे कृषि की लाभप्रदता पर से अपना नियंत्रण प्रायः-प्रायः खो चुके हैं। भारत में देखा जाये तो 1980 के दशक के मध्य में नकद खेती की नई अवधारणा की लहर चली थी और सरकार ने अपने सारे संसाधनों का उपयोग किसानों को यह समझाने में किया था कि वे कृषि का उत्पादन बढ़ाने में यूरिया, डी.ए.पी. और फॉस्फेट का भरपूर उपयोग करें और रासायनिक कीटनाशक ही फसलों के रोगों का सबसे बेहतर इलाज है। तब भी किसान जानता था कि यह रास्ता ठीक नहीं है और उसने इन पदार्थों का उपयोग करने से इंकार कर दिया। उस वक्त सरकार ने रासायनिक उर्वरक गांवों में यूं ही फिंकवा दिये, खेतों में निःशुल्क डालने के वायदे किये गये। 1982-87 के दौर का विश्लेषण करने से यह साफ हो जाता है कि एक सुनियोजित साजिश के तहत उन

गांवों को बिजली, पानी और सड़क की सुविधा पहले दी गई जो सरकार की बात मानने लगे थे। इस तरह गांव कृषि की तथाकथित नई पद्धति का उपयोग करने लगे। इतना ही नहीं सरकार ने पहली बार सोयाबीन का उच्च गुणवत्ता का काला बीज दिया जिससे आश्चर्यजनक उत्पादन होता है पर दूसरी बार से सफेद बीज दिया जाने लगा, इसी दौरान किसानों को मोटर पर सबसिडी दी गई ताकि किसानों को अपना निर्णय बदलने का अवसर न मिले। इसके बाद 1990 से सोयाबीन को सबसे लाभदायक नकद फसल के रूप में प्रचारित किया गया। निःसन्देह तीन माह में तैयार होकर लाभ देने वाली इससे बेहतर कोई और फसल न पहले थी न आज है किन्तु लगातार सोयाबीन की खेती में अपनी लागत भी नहीं निकाल पा रहा है। और शुरू हो गया है आत्महत्याओं का सिलसिला। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि मध्यप्रदेश की जलवायु सोयाबीन की खेती के लिए सबसे उपयुक्त मानी जाती है और यही कारण है कि यहां के किसान एक साल में निरन्तर और बार-बार यही फसल ले रहे हैं। वास्तव में सोयाबीन और रासायनिक कृषि पद्धति को एक जरिया बनाया गया है, हमारी सामाजिक अर्थव्यवस्था के विनाश का। सोयाबीन किसान को फायदा दे या न दे परन्तु उद्योगों को इसका कचरा भी मुनाफा देता है। वैसे ता हम यही मानते हैं कि सोयाबीन से खाने का तेल बनता है, किन्तु हम शायद यह नहीं जानते हैं कि तेल बनने की प्रक्रिया के हर चरण में निकलने वाले अवशिष्ट पदार्थ किसी न किसी मायने में आर्थिक लाभ देता है। यह सोया पदार्थ जानवरों के लिये एक पौष्टिक पदार्थ है और मध्यप्रदेश की भूमि से उपजे सोयाबीन का डी.आ.एल. केक सबसे पौष्टिक माना जाता है, फिर इसी से सोयामिल्क, बिस्किट और खाद्य पदार्थ बनते हैं। आमतौर पर सोयाबीन का तेल बनाने वाली कम्पनी ही यही उत्पाद भी बाजार में बेचती है। आर्थिक लाभ को देखते हुये भारत में भी ज्वार, मक्का ओर बाजरे की खेती तो लगभग खत्म सी हो गई है, इतना ही नहीं दो दशक पहले तब सबसे बेहतर नकद फसल मानी जाने वाली कपास भी इस विनाश से नहीं बच पाई।

बदलते हुये दृष्टिकोण और व्यवहार का प्रभाव हमारे समाज के स्वास्थ्य पर भी पड़ा है। आज यदि शोध के आंकड़े यह बताते हैं कि 44 प्रतिशत महिलायें खून की कमी की शिकार हैं तो इसका सीधा सा यह जवाब है कि खून का निर्माण करने में सबसे सक्षम अनाज ज्वार, बाजरा और मक्का का देश में उत्पादन लगातार कम होता जा रहा है और यही कारण है कि ग्रामीण महिलाओं में एनीमिया की शिकायत बढ़ी है।

इसके साथ ही रासायनिक खेती के प्रभावों के भी विस्तृत विश्लेषण की आवश्यकता है और किसानों को जैव तकनीक से बनने वाले बीजों के बारे में स्पष्ट जानकारी दिया जाना भी जरूरी है। प्राचीन पद्धति के अनुसार कृषि के व्यवसाय से जुड़े लोग हर फसल से बीज निकाल कर अगली बुआई के लिये सुरक्षित रख लेते थे किन्तु नई तकनीक के अन्तर्गत अब किसान को हर बार बुआई के लिये नया बीज बाजार से खरीदना पड़ेगा क्योंकि जैव तकनीक के जरिये खेत से उपजे बीज की उत्पादन क्षमता समाप्त की जा रही है। इन नये हाइब्रिड बीजों पर उसी कम्पनी के कीटनाशकों-उर्वरकों का प्रभाव पड़ेगा जिस कम्पनी के बीजों का उपयोग किया गया है।

इसी तरह भूमि सुधार कानून का निर्माण भी किसी आदिवासी, गरीब या किसान की बेहतरी के लिये नहीं किया गया है बल्कि सरकार ने ग्रामीण समाज का सीमांकन करके किसान को उसकी सीमाओं का अहसास कराया है। और इस कानून के जरिये गांवों में उद्योगों की स्थापना के दरवाजे खोले हैं ताकि उद्योगपति गांव में सहजता से उपलब्ध पानी, सस्ते श्रम का शोषण कर सके, ऐसा उन्होंने किया भी। अब सरकार भी यह संदेश देने लगी है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को केवल सोयाबीन पर निर्भर नहीं होने दिया जाये किन्तु अब तो स्थिति नियंत्रण के बाहर हो चुकी है। किसान इसके जाल से बाजार में इन फसलों के दाम कम होंगे और फिर ज्यादा लाभ कमाने के लिये उसे सोयाबीन एक मात्र विकल्प के तौर पर नजर आयेगा।

रासायनिक पदार्थों के उपयोग का नकारात्मक प्रभाव गेहूं, चना और सब्जियों की गुणवत्ता पर भी पड़ा है। पहले ग्रामीण क्षेत्रों में किसान अपने उत्पादन का संग्रह करके रख लेते थे ताकि सही दाम मिलने पर बेच कर लाभ कमाया जा सके किन्तु अब उसे संग्रह ही नहीं किया जा सकता है क्योंकि अब उसमें घुन लग जाता है। पहले किसान के घरों में प्रकृति आधारित मिट्टी से बने संग्रह कक्ष हुआ करते थे जिनमें अनाज सुरक्षित रहता था अब उनकी जगह प्रशीतक संयंत्रों (कोल्ड स्टोरेज) ने ले ली है। जहां प्रति किलो और सप्ताह के हिसाब से संग्रहण शुल्क देना पड़ता है। ऐसे में यदि किसान उसका संग्रह करेगा तो भी उसकी लागत तो बढ़ती ही जाना है यानी घाटे में बेचना ही उसके लिये अब फायदे का सौदा है। इसी तरह पहले जहां उत्पाद को वर्ष भर सहेज सकते थे

अब महीने भर बाद वह सड़ने लगता है क्योंकि उसके नैसर्गिक रोग प्रतिरोधक गुणों का हमने विनाश कर दिया है।

जब किसानों ने सोयाबीन की नकद क्षमता देखी तो उन्होंने वैकल्पिक और मौसमी व्यवस्था को नकारते हुये एक-एक साल में तीन बार उसी की फसल लेना शुरू कर दिया और गेहूँ की बुआई केवल इसलिये की क्योंकि सोयाबीन की फसल के बाद खेत में नाइट्रोजन की बेहतरीन स्थिति होती है और गेहूँ में भी फायदा है किन्तु इसके कारण जमीन पर अतिरिक्त और असीमित बोझ पड़ा जिससे जमीन अपनी नमी अपनी उर्वरता रंगत और खुशबू खोती जा रही है। इसी तरह किसानों ने इसके फायदे को भुनाने के लिये जंगलों को भी तबाह करना शुरू कर दिया। उन्होंने अपने खेत और जमीन पेड़ तो काटे ही साथ में सरकारी जमीन का अतिक्रमण करके भी वन सम्पदा का नाश कर दिया। सरकार का वन सुरक्षा कानून भी इसमें कोई काम नहीं कर पाया। इसके पीछे कानून या सरकार की निष्क्रियता नहीं है बल्कि इसके पीछे भी औद्योगिक घरानों को लाभ पहुंचाने की मंशा रही है। ये कम्पनियां ही चाहती थी कि जंगल कटें और किसान वह काम करें जो वे चाहते हैं।

दने&nj&dne | kft'kka | s t|>rk fdl ku

खेती किसानी अब जिस तरह साजिशों की शिकार किसान हो रही है उससे यह संकेत मिलने लगे हैं कि सरकारी और सामाजिक सहयोग नहीं मिलने के कारण किसान इस संघर्ष से हार जायेगा और इस हार से उसका अपना अस्तित्व भी संकट में आ जायेगा। हाल के अनुभव बताते हैं कि मध्यप्रदेश के 23 प्रतिशत किसान अब कृषि का विकल्प खोज रहे हैं, मालवा में तो कृषि की नई तकनीकों ने जो नकारात्मक प्रभाव पैदा किये हैं, उससे समाज में सामाजिक असंतुलन की स्थिति निर्मित होने लगी है। बात चाहे नई तकनीक ही हो, बाजार की हो या फिर विकास की, ये सभी पहलू किसी न किसी साजिश के अंग हैं और अब हर साजिश कहीं न कहीं आकर किसानों से जुड़ जाती है, खासकर तब जब राज्य की संस्कृति, परम्परा और अर्थव्यवस्था सभी की धुरी खेती हो, तब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ-साथ किसी भी जतन से धन कमाने वालों के लिये यह जरूरी हो जाता है कि समाज में ऐसी स्थिति निर्मित कर दी जाये जिससे किसान केवल उनका निर्देश स्वीकार करें।

वास्तव में बहुराष्ट्रीय कम्पनियां ही अब यह तय करेंगी कि किसान कब, कौन सी, कितनी फसल और किसके लिये पैदा करेगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि किसीसमय सम्पन्न रहे 6 हजार से ज्यादा किसानों को आत्महत्या के लिये प्रेरित कर देने वाली इन साजिशों का लक्ष्य केवल भारी आर्थिक लाभ कमाना नहीं है बल्कि अब वे एक ऐसी व्यवस्था खड़ी करना चाहती हैं जो स्थाई न हो और किसान जो कमाये वह तकनीक एवं बदलाव के नाम उन्हें सौंपता जाये। मध्यप्रदेश का उल्लेख इस बारे में स्पष्ट राय बनाने में मदद करता है। प्रदेश में सोयाबीन के उत्पादन के लिये सरकार ने किसानों से कई वायदे किये। सबसे बड़ा वायदा तो यह रहा है कि सरकार स्वयं खरीदी मूल्य पर किसानों से सीधे सोयाबीन खरीद लेगी, उन्हें इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। परन्तु पिछले वर्ष तिलहन संघ ने 28 लाख टन में से केवल सवा लाख टन सोयाबीन खरीदा यानी मात्र पांच प्रतिशत। बाकी 27 लाख टन सोयाबीन बेचने के लिये किसान को खुले बाजार में जाना पड़ेगा, जहां बहुराष्ट्रीय कम्पनियां अपने मूल्य पर किसान को सोयाबीन बेचने के लिये मजबूर करेंगी। आमतौर पर यह मूल्य लागत से भी कम बैठता है, क्या यह साजिश नहीं है?

यह एक बहुत ही रोचक योजना है। पहले सरकार पर दबाव डाल कर कृषि क्षेत्र में सबसिडी को कम करवाया गया, डीजल एवं यूरिया के दाम बढ़वाये गये, इससे किसान की लागत में तेजी से वृद्धि हुई। इस वृद्धि से आम आदमी परेशान हुआ तो विदेशी कम्पनियों ने सरस्ते विकल्प बाजार में खड़े करके सीनीय कृषि उद्योग को खत्म करने का काम किया। मूंगफली का तेल मंहगा हुआ तो सोयाबीन और पाम तेल को विकल्प बनाया गया, घी के स्थान पर बटर आयल समाज में आ गया, ज्वार-बाजरा का तो उत्पादन ही बन्द-सा हो गया है। फिर कुपोषण दूर करने के लिए दाल-सब्जी के स्थान पर फल, चेरी और सूखे मेवों की बात की जाने है।

बड़े ही सुनियोजित तरीके से इस साजिश को अंजाम दिया गया है और उसका सबसे दुखदायी दुष्परिणाम यह है कि तात्कालिक लाभ के लिये हजारों साल से जिस बीज का किसान निरन्तर उपयोग कर रहे थे, उसका अस्तित्व

ही समाप्त हो गया। यह बीज ज्यादा उर्वर था, उसमें ज्यादा प्रतिरोधक क्षमता थी, चमक थी और स्वाद था, इससे भी अहम तथ्य यह है कि उस बीज से पैदा हुआ फल कई महीनों और कई बार तो सालों तक न तो अपना स्वाद खोता था न चमक। वह बीज प्रतिकूल परिस्थितियों में भी पनप सकता था, पर उसके स्थान पर किसानों ने सरकार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कहने पर जैव प्रौद्योगिकी से बने बीज अपनाये, जो न केवल पूरी तरह से पुनर् उत्पादन क्षमता से विहीन हैं बल्कि नपुंसक भी हैं।

भारत में कृषि एक व्यावसायिक व्यवहार कम और पारम्परिक विश्वास से ज्यादा जुड़ा हुआ मसला है जिस पर सोयाबीन से उपजे लालच ने सीधा आघात किया है। इसी सोयाबीन के कारण फसलों का वह चक्र टूटा है जिसके कारण भारत भीषण प्राकृतिक अकाल का डटकर सामना कर चुका है। पहले हमारे किसान गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा, सब्जी, दलहन आदि फसलें बदल-बदल कर लिया करते थे और भूमि का पूरा भाग भी एक अनुपात में ही उपयोग में लाते थे जिससे बीमारी का प्रकोप एक ही फसल पर और वह भी सीमित क्षेत्र में पड़ता था यानी किसान पर बहुत स्थाई नकारात्मक आर्थिक प्रभाव नहीं पड़ता था। इससे जमीन की उर्वरता और नमी भी निश्चित मात्रा में बनी रहती थी परन्तु सोयाबीन से प्राप्त होने वाले त्वरित लाभ ने किसानों को अपनी परम्परा से विमुख होने के लिये प्रेरित कर दिया और फिर हर तीन माह में उसकी योजना सोयाबीन की फसल लेने की बनने लगी। अब जमीन ने सोयाबीन से अपनी नाराजी दिखाना शुरू कर दी है, दीवाला निकल जाने पर प्रेमिका का साथ छोड़ देने जैसी ही घटना घटी। पहले तो प्रकृति के प्रकोप, भूमि के असंतुलित होते स्वरूप के कारण सोयाबीन का उत्पादन प्रभावित होने लगा, फिर बाद में बाजार में इसके भावों में इतनी गिरावट आई कि शायद किसानों ने पहले सपने में भी ऐसा न सोचा होगा। मध्यप्रदेश के मालवा क्षेत्र में तो खेतों का हर हिस्सा सोयाबीन से पटने लगा था पर पिछले तीन सालों के लगातार नकारात्मक प्रभावों ने किसानों को पछताने के लिये मजबूर कर दिया है। अब तो कम से कम किसानों को चेतना ही होगा कि सोयाबीन हमारी सांस्कृतिक अर्थव्यवस्था को चौपट करने का भाड़यंत्र हैं। इस साजिश को समझने के लिये पहले सोयाबीन का आर्थिक पहलू समझना भी जरूरी है। सोयाबीन का उपयोग केवल तेल के रूप में नहीं होता बल्कि इसका हर प्रक्रिया में बचा हुआ अवशेष काम में लिया जाता है। तेल निकलने के बाद बचने वाली सोया खली से सोया बरी बनती है, सोया दूध और बिस्किट बनते हैं यानी एक बीज से चार बार लाभ कमाया जाता है। यह लाभ किसानों को नहीं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को मिलता है।

विकसित देशों में यही सोयाखली जानवरों का प्रमुख खाद्य पदार्थ है। उन देशों में दूध और मांस के उत्पादन के लिये अलग-अलग जानवरों का पालन किया जाता है। अब न्यूजीलैण्ड और यूरोपीय देश भारत में सात रुपये प्रति लीटर की दर से दूध उपलब्ध कराने की तैयारी कर रहे हैं। यह दूध केवल मूल्य में ही कम नहीं है बल्कि इसे तीन माह तक बिना उपयोग किये भी सुरक्षित रखा जा सकेगा। वहीं दूसरी ओर हमारा किसान दूध में पानी मिलाकर भी अपनी लागत नहीं निकाल पा रहा है। यही कारण है कि जहां चार साल पहले चौटाला की मण्डी में पचास हजार जानवर खरीद-फरोख्त के लिये आते थे, अब वहां डेढ़ से दो लाख जानवर बिकने आ रहे हैं। जब बाजार में प्रतिस्पर्धा के कारण दूध ही नहीं टिक पायेगा तब स्वाभाविक तौर पर पौने दो करोड़ किसान पशुपालन बंद कर देंगे और जब पशु ही नहीं रहेंगे तब विदेशी कम्पनियां अपना असली रूप दिखायेंगी यानी अपनी इच्छा से मूल्यों का निर्धारण करेंगी। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कभी भी सरकार ने दुग्ध उत्पादन के लिये अनुदान या रियायत का प्रावधान नहीं किया है जबकि अमेरिका में 65 प्रतिशत अनुदान की व्यवस्था रही है ताकि किसानों को तो लाभ मिले ही साथ में आम आदमी को भी उचित मूल्य पर सामग्री उपलब्ध हो। इस संदर्भ में भारत सरकार ने जहां एक ओर किसान की सहायता नहीं की वहीं दूसरी ओर वर्ष 2000 में बीस हजार टन सप्रेटा दूध आयात किया वह भी बिना आयात शुल्क के।

सन् 1923-24 में भारत में प्रति व्यक्ति खाद्यान्न के उपभोग का औसत 526 ग्राम था। वास्तव में देखा जाये तो स्वतंत्रता के बाद विकास की कई सीढ़ियां चढ़ने के बाद यहां यह उपभोग स्तर कुछ तो बढ़ना ही चाहिये परन्तु वर्तमान में यहां प्रतिव्यक्ति 396 ग्राम खाद्यान्न का उपभोग हो रहा है। इसका प्रमुख कारण है वैकल्पिक खाद्य सामग्रियों के उपभोग में वृद्धि। फास्टफूड, डिब्बा बंद सामग्री और उच्च या निम्न कैलोरी वाली सामग्रियों का प्रचलन तेजी से बढ़ा है। यही कारण है कि किसान के उगाये हुये आलू की कीमत दो रुपये किलो होती है परन्तु बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा उसी आलू से बनाई गई चिप्स 240 रुपये किलो की कीमत के साथ बड़ी सहजता

के साथ सामाजिक बाजार में जगह बनाती जाती है। इसके बाद भी हम मूल्यों के उतार-चढ़ाव की बात यदि करते हैं तो दो रुपये किलो वाले आलू की ही करते हैं न कि ढाई सौ रुपये किलो वाली आलू चिप्स की क्योंकि वह एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी का उत्पाद है और यदि उसे मनचाहा दाम नहीं मिलेगा तो विश्व में भारत की छवि खराब होगी, अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हम पिछड़ जायेंगे, फिर चाहे किसान बेमौत क्यों न मरे। यह भी एक खास बात है कि संसद में किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी की लाबिंग करवाना आसान है पर किसान के पक्ष में कोई ईमानदारी से लाबिंग करे, यह असंभव है।

सोयाबीन के फेर में पड़ कर न केवल हमने अपनी जमीन और खेती को नुकसान पहुंचाया है बल्कि आज जिस अकाल का सामना हम कर रहे हैं उसके पीछे भी तेजी से बदलती कृषि तकनीक ही सबसे बड़ा कारण है। अतीत में ऐसा कभी नहीं हुआ है कि चार सालों में वर्षा की कमी के कारण अकाल निर्मित हुआ हो क्योंकि भू-जल स्तर के बेहतर स्थिति में बने रहने के कारण कृषि भूमि का नम बने रहना स्वाभाविक था। इससे खेती को इतना भीषण नुकसान नहीं हुआ, परन्तु यह पहला अवसर है जब जमीन के भीतर पानी के तेजी से घटते हुये स्तर के कारण सभी के माथे पर पसीने की बूंद आई, क्योंकि हमने अपनी परम्पराओं को जलग्रहण और वाटर शेड या रूफ वाटर हारवेस्टिंग (यानी पानी की खेती) जैसे नाम दे दिये, हमने किसान और पानी के सम्बन्धों को तोड़ दिया क्योंकि इसके लिये विश्व बैंक ने 15 सौ करोड़ रुपये दिये हैं। पर कुल मिलाकर बात यह है कि किसान ने अपने साथी चैतुओं के साथ विश्वासघात किया है। पहले चैतुये (फसल की कटाई करने वाले) फसल काटकर वापस जाते समय लोकगीत गाते हुये खेत के चारों तरफ ऊँची मेंड़ बनाकर जाते थे ताकि धरती का पेट पानी से लबालब भरा रहे यानी भूजल स्तर बेहतर स्थिति में बना रहे परन्तु सोयाबीन से बनी नकद कमाई की तस्वीर को देखते-देखते अब किसान की आंखों से आंसू से आने लगे हैं क्योंकि किसान बार-बार सोयाबीन उगा कर ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना चाहता था। अब चूंकि सोयाबीन को पानी की ज्यादा जरूरत पड़ती है और फिर भी पानी बचाने की पारम्परिक तकनीक को भी किसानों ने धन कमाने की होड़ में पीछे छोड़ दिया जिससे मिट्टी की नमी जाती रही।

अब केवल एक उदाहरण संकट के इन घने बादलों से होने वाली बरसात का चित्र स्पष्ट कर देगा। दो अफ्रीका देशों नाइजीरिया और सेनेगल में ब्रिटिश टॉबैको (बैट) नामक कम्पनी ने आम आदमी को तम्बाकू की खेती के लिये प्रेरित किया। इसके लिये किसानों को तकनीक दी गई, रियायतें दी गई और पूरा उत्पाद कम्पनी ने भारी भुगतान करके खरीद लिया। इससे किसानों को भी अच्छा-खासा मुनाफा हुआ। बस फिर क्या था पूरा देश तम्बाकू की खेती करने लगा। फिर एक समय ऐसा आया जब तम्बाकू और सिगरेट उन देशों की जरूरत बन गये, पहले कम्पनी ने तम्बाकू के कम दाम दिये और फिर खरीदना बंद कर दिया, जमीन बर्बाद हो गई। उन देशों के पास खाद्यान्न खरीदने के लिये कुछ नहीं बचा। तब उन्हें विश्व बैंक से कर्ज लेना पड़ा, पर उनका परम्परा से नाता हमेशा के लिए टूट चुका था। अब किसानों को स्वयं सोचना है कि वे अपनी परम्परा का पुननिर्माण कैसे करें और उस भाड़यंत्र का मुकाबला कैसे करें जिसमें सत्ता और नीति निर्धारक खुद भी शामिल हों।

jkl k; fud dhVuk'kd

पूरे विश्व में कृषि रोगों और खरपतवार को कीटनाशकों से खत्म करके अनाज, सब्जियां, फल, फूल और वनस्पतियों की सुरक्षा करने का नारा देकर कई प्रकार के कीटनाशक और रसायनों का उत्पादन किया जा रहा है; किन्तु इन कीटों, फफूंद और रोगों के जीवाणुओं की कम से कम पांच फीसदी संख्या ऐसी होती है जो खतरनाक रसायनों के प्रभावों से बच जाती है और इनसे सामना करने की प्रतिरोधक क्षमता हासिल कर लेती है। ऐसे प्रतिरोधी कीट धीरे-धीरे अपनी इसी क्षमता वाली नई पीढ़ी को जन्म देने लगते हैं जिससे उन पर कीटनाशकों का प्रभाव नहीं पड़ता है और फिर इन्हें खत्म करने के लिये ज्यादा शक्तिशाली, ज्यादा जहरीले रसायनों का निर्माण करना पड़ता है। कीटनाशक रसायन बनाने वाली कम्पनियों के लिये यह एक बाजार है। इस स्थिति का दूसरा पहलू भी है। जब किसान अपने खेत में उगने वाले टमाटर, आलू, सेब, संतरे, चीकू, गेहूँ, धान और अंगूर जैसे खाद्य पदार्थों पर इन जहरीले रसायनों का छिड़काव करता है तो इसके घातक तत्व फल एवं सब्जियों एवं उनके बीजों में प्रवेश कर जाते हैं। फिर इन रसायनों की यात्रा भूमि की मिट्टी, नदी के पानी, वातावरण की हवा में भी जारी रहती है।

यह भी कहा जा सकता है कि मानव विनाशी खतरनाक रसायन सर्वव्यापी हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में जो भोजन हम करते हैं। जो फल हम खाते हैं, पानी पीते हैं, श्वास लेते हैं, इन सभी के जरिये वास्तव में हम अनजाने में ही जहर का सेवन भी करते हैं। यह जहर, पसीने, श्वास, मल या मूत्र के जरिये हमारे शरीर से बाहर नहीं निकलता है अपितु शरीर की कोशिकाओं में फेलकर लाइलाज रोगों और भांति-भांति के कैंसर को जन्म देता है। यह हर कोई जानता है कि यदि व्यक्ति आधा लीटर खरपतवार नाशक पी लेता है तो परिणाम केवल एक ही हो सकता है, दर्दनाक और दुखदायी मौत। ठीक यही स्थिति हर व्यक्ति के साथ संभव है, परन्तु कुछ समय बाद, क्योंकि हर व्यक्ति एक ही खुराक में इस जहर का सेवन नहीं कर रहा है अपितु हर सेब, हर टमाटर और हर रोटी और सब्जी के साथ जहर की थोड़ी-थोड़ी मात्रा उसके शरीर में प्रवेश कर रही है। आरम्भ में हम सामना करते हैं सिरदर्द, त्वचा समस्या, अल्सर और फिर केन्सर का। कई पश्चिमी देशों और भारत के कई राज्यों में इन कीटनाशकों ने लाखों लोगों को स्थाई रूप से बीमार बनाया है जिनमें से ज्यादातर मितली (नॉसी), डायरिया, दमा, साईनस, एलर्जी, प्रतिरोधक क्षमता में कमी और मोतियाबिंद की समस्या का सामना कर रहे हैं। इसी का प्रभाव है कि कई मातायें अपने बच्चों को स्तनपान के जरिये कीटनाशक रसायनों के जहरीले तत्वों का सेवन करवा रही हैं जिससे बच्चों में शारीरिक विकलांगता के स्थाई लक्षण नजर आ रहे हैं। इस प्रदूषण से महिलाओं में स्तन कैंसर की वृद्धि हो रही है, उनके गर्भाशय तथा मासिक धर्म की नियमितता पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है, उनकी रासायनिक अंतः स्रावी ग्रंथियां भी शिकार हो रही हैं। जबकि पुरुषों की प्रजनन क्षमता में निरंतर कमी आ रही है। पर्यावरण शोधों से प्राप्त निष्कर्षों से पता चलता है कि शरीर में ज्यादा भाग में जहरीले रसायन पहुँच जाने के फलस्वरूप विगत तीन वर्षों में भारत में गिद्धों की संख्या में 90 फीसदी की कमी आ गई है।

इस तरह के उत्पादन करने वाले ज्यादातर बड़े व्यावसायिक संस्थान संयुक्त राज्य अमेरिका से सम्बन्ध रखते हैं—जैसे ड्यूपां, अपजोन, फाइजर और ल्यूब्रीजोल। केवल ड्यूपां और उसकी सहायक संस्थाएँ 1.75 करोड़ पाउंड प्रदूषक रोज छोड़ते हैं, 1986 में इसने 34 करोड़ पाउंड जहरीले रसायन अमरीका की वायु, मिट्टी और पानी में डाले। यह कम्पनी क्लोरो फ्लोरो कार्बन (सी.एफ.सी.) का उत्पादन करने वाली सबसे बड़ी कम्पनी है। यह रसायन वातावरण की ओजोन परत में क्षय का सबसे बड़ा कारण है जिसकी वजह से कम से कम 4 लाख व्यक्ति त्वचा कैंसर से प्रभावित होंगे और मोतिया बिंद के मामले डेढ़ करोड़ बढ़ जायेंगे। इससे फसलों को भी गंभीर नुकसान होता है।

बड़े आश्चर्य की बात है कि घातक जहर को छोटे-छोटे अक्षरों में पैक पर चेतावनी लिखकर बेचा जा रहा है यह जानते हुये भी कि रासायनिक कीटनाशक मानव जीवन और प्रकृति को विनाश की ओर ले जा रहे हैं। जिन पदार्थों का उपयोग हम कीटों के विनाश के लिए कर रहे हैं, वह मानव के जीवन के लिये भी खतरा हो सकते हैं। और तो और उन रसायनों के उपयोग की विधि में यह भी लिखा जाता है कि इस रसायन का छिड़काव करते समय नाक एवं मुँह को कपड़े से, आंखों को मास्क से और हाथों को दस्तानों से ढक लें, यदि रसायन त्वचा से स्पर्श कर जाये तो तुरन्त दो-तीन बार साबुन से उसे धोयें और शीघ्र ही डाक्टर से इलाज करवायें..... क्यों? क्योंकि यह एक जानलेवा जहर है। जो कीट के लिये इतना घातक हो सकता है। उसका पेड़-पौधों, नदियों, फलों, फूलों और हवा पर क्या प्रभाव पड़ता होगा। वास्तव में यह दुखदायी तथ्य है कि धनोपार्जन में व्यस्त यह कीटनाशक रसायन उत्पादन करने वाले संस्थान हमें सीधे जहर के सम्पर्क में न आने की चेतावनी दे रहे हैं। और यही जहर सब्जियों, अनाज, फलों और पानी के जरिये हमारे शरीर में पहुँचाया जा रहा है।

भोपाल में यूनियन कार्बाइड के जरिये घटी गैस त्रासदी की घटना हमारे वैचारिक तंत्र को झकझोर देती है। यूनियन कार्बाइड एक कीटनाशक रसायन बनाने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनी है जिससे 1984 में मिथाइल आइसोसाइनेट नामक गैस का रिसाव हुआ था और अब तक इससे प्रभावित 24 हजार लोगों की मौत हो चुकी है क्योंकि उक्त गैस में फास्जीन, क्लोरोफार्म, हाइड्रोक्लोरिक एसिड जैसे तत्वों का मिश्रण था। यह आज भी भोपालवासियों के शरीर में धीमे जहर के रूप में मौजूद है।

फास्जीन एक ऐसा तत्व है जो तरल और गैस के स्वरूप में पाया जाता है जिसका उपयोग रासायनिक हथियारों के निर्माण में होता रहा है और विश्व युद्ध के दौरान हिटलर ने इसको माध्यम बनाकर लाखों सैनिकों को मौत के घाट उतारा था। फास्जीन वायु से साढ़े तीन गुना ज्यादा भारी होती है जिससे श्वास तंत्र बुरी तरह प्रभावित होता है। पूर्व में युद्ध के दौरान हुये इसके प्रयोग से तीन लक्षणों का विश्लेषण किया जा चुका है, पहला— आंखों में जलन, गले में जलन और त्वचा पर सरसराहट, दूसरा— श्वास में ज्यादा तकलीफ, दम घुटना और तीसरा— मृत्यु। फास्जीन की थोड़ी सी मात्रा भी मृत्यु का कारण हो सकती है और भोपाल में गैस पीड़ितों में इन तीनों लक्षणों को साफ देखा गया है। इससे व्यक्ति फुफफस वात विकार से प्रभावित हो जाता है और धीरे-धीरे मृत्यु की ओर बढ़ता है। अब प्रश्न यह है कि ऐसी खतरनाक और भयंकर परिणाम होने के बावजूद जहरीले रसायनों का उपयोग खेती में प्रयोग होने वाले कीटनाशक रसायन बनाने में क्यों किया जाता है क्योंकि ज्यादातर कीट अब हल्के जहर से प्रभावित ही नहीं होते हैं और इनका सामना करने के लिये उन्होंने प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर ली है। अतः फास्जीन जैसी गैस का उपयोग भी पेस्ट कंट्रोल रसायनों में होने लगा है।

डीडीटी को पूरे विश्व में प्रतिबंधित किया जा चुका है किन्तु मलेरिया नियंत्रण के नाम पर आज भी भारत में इसका उपयोग हो रहा है और बीएचसी की खपत भी निरन्तर बढ़ती जा रही है। पचास के दशक में डीडीटी, बीएचसी और मैथालियोन का वार्षिक उपयोग दो हजार टन था जो आज बढ़कर एक लाख टन तक पहुंच चुका है। एल्यूमिनियम फास्फाइड, जो अनाज संग्रह के लिये सर्वाधिक प्रभावशाली पदार्थ माना जाता है, हमारे भोजन में जाने के बाद जहरीला असर करता है। आल इण्डिया इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज द्वारा कराये गये एक सर्वेक्षण से एल्यूमिनियम फास्फाइड के ही जहरीले असर के 114 उदाहरण रोहतक (हरियाणा) में, 55 उत्तरप्रदेश में और 30 हिमाचल प्रदेश में मिले थे। कीटनाशक दवाओं के छिड़काव वाले गेहूं के आटे की पूरियां खाने से उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में करीब डेढ़ सौ व्यक्ति मौत के शिकार हो गये थे जबकि कालीडोल नामक कीटनाशक के छिड़काव वाली चीनी और गेहूं के आटे के उपयोग से केरल में 106 लोगों की मृत्यु हो गई थी।

भारत में बड़े गर्व के साथ ऐसे रसायनों का उपयोग हो रहा है जो पूरी दुनिया में प्रतिबंधित हैं जैसे डीडीटी, बीएचसी, एल्लान, क्लोसडेन, एड्रीन, मिथाइल पैराथियोन, टोक्साफेन, हेप्टाक्लोर तथा लिण्डेन। इसका परिणाम यह है कि एक औसत भारतीय अपने दैनिक आहार में स्वादिष्ट भोजन के साथ 0.27 मिलीग्राम डीडीटी भी अपने पेट में डालता है जिसके फलस्वरूप औसत भारतीय के शरीर के ऊतकों में एकत्रित हुये डीडीटी का स्तर 12.8 से 31 पीपीएम यानी विश्व में सबसे ऊंचा है। इसी तरह गेहूं में कीटनाशक का स्तर 1.6 से 17.4 पीपीएम, चावल में 0.8 से 16.4 पीपीएम, दालों में 2.9 से 16.9 पीपीएम, मूंगफली में 3.0 से 19.1 पीपीएम, साग-सब्जी में 5.00 और आलू में 68.5 पीपीएम तक डीडीटी पाया गया है। महाराष्ट्र में डेयरी द्वारा बोटलों में बिकने वाले दूध के 90 प्रतिशत नमूनों में 4.8 से 6.3 पीपीएम तक डिल्लीन भी पाया गया है। खेती में रासायनिक जहर के उपयोग के कारण नदियों का पानी भी जहरीला हो गया है। कर्नाटक के हसन जिले के तालाबों के पीने के पानी में तो 0.02 से लेकर 0.20 पीपीएम तक कीटनाशक पाये गये हैं जबकि कावेरी नदी के पानी में 1000 पीपीबी (पाटर्स पर बिलियन) बीएचसी और 1300 पीपीबी पेरीथियोन पाया गया है। अब रासायनिक कीटनाशकों के प्रभावों पर हमें तर्कों के नहीं अपितु अनुभवों के आधार पर चर्चा करनी चाहिये।

हिमालय और उत्तरप्रदेश के पहाड़ी इलाकों जहां अब तक इन रसायनों का उपयोग नहीं होता है, वहां इससे हो सकता है कि खेती के लाभ में वृद्धि कम होती हो किन्तु यह हर जमीन, पानी और हवा को प्रदूषित कर रहा है इसलिये इनका उपयोग रोकना होगा अतः स्वाभाविक है कि खेती के कीटनाशकों के सन्दर्भ में भी पारम्परिक उपायों से बेहतर विकल्प कोई और नहीं हो सकता है।

urhts ijEijk l s ukrk rkMus ds

राजगढ़ के एक व्यक्ति, जिसका नाम यूं तो राधेश्याम सेन है किन्तु वह आगे चल कर इस कहानी में उस विनाश की दास्तान हैं जिसे हमने अपनी पारम्परिक और सांस्कृतिक कृषि पद्धतियों को त्याग कर अपनाया है। आज हर रोज हम इस तथ्य पर चर्चा कर रहे हैं कि पूरे देश को अन्न उपलब्ध करवाने वाला राज्य पंजाब स्वयं अनाज आयात करने की स्थिति में पहुंच गया है, विकसित राज्य आंध्रप्रदेश, जहां से देश में नवीनतम तकनीक का प्रवेश होता है में छह हजार किसान आत्महत्या कर चुके हैं, और तो और उत्तरप्रदेश और बिहार में हजारों टन आलू और

धान को खरीदने वाला कोई नहीं है। अब हमें यह मानना पड़ेगा कि भारत में आज जो विपत्ति ग्रामीण व्यवस्था पर हावी हो रही है उसके पीछे सबसे बड़ा कारण है समाज और संस्कृति से जुड़े जीवन से संबंध विच्छेद। 1960-70 के दशक में देश में आई हरितक्रांति ने क्या वास्तव में हमें कोई ऐसा संदेश दिया था जिसका पालन करने का परिणाम यह हो रहा है कि मात्र 30 वर्ष बाद किसान अपनी लागत भी निकाल पाने में अक्षम होता जा रहा है। निश्चित रूप से नहीं, किंतु उस संदेश पर कहीं न कहीं किसान की आर्थिक महत्वाकांक्षा हावी हो गई और ज्यादा उत्पादन की चाह में उसने जमीन और उसकी उर्वरता के अस्तित्व को भी दांव पर लगा दिया।

कुछ दिनों पहले जब गुना जिले के एक वृद्ध किसान से यह पूछा गया कि खेती के लिये जमीन का चुनाव आप कैसे करते हैं तो उन्होंने कहा था कि जिस खेत में सांप होते हैं वह बड़ी ही उपजाऊ जमीन होती है। शायद आपको यह महसूस होगा कि यह अंधविश्वास की बात है किन्तु यह निहायत ही तकनीकी मसला है। चौधरी रामलाल का मतलब यह है कि जिस खेत में सांप होंगे वहां चूहे होंगे और जहां चूहे होंगे वहां केंचुये होंगे, और केंचुये मिट्टी को उर्वर बनाने की प्राकृतिक प्रक्रिया के संवाहक हैं। परन्तु डीडीटी, बीएचसी और अन्य रासायनिक कीटनाशकों के छिड़काव के कारण आज खेतों में केवल 35 फीसदी सांप और चूहे रह गये हैं। ज्यादा मात्रा में रासायनिक पदार्थों के फलस्वरूप खेतों की मिट्टी की पानी सोखने और नम बने रहने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो चली है। मिट्टी के ठोस और कठोर होते जाने के कारण बरसात का पानी जमीन के भीतर प्रवेश न करके बह जाता है जिससे भूमिगत जल स्तर कम होने लगा है। और इस समस्या से निपटने के लिये 27 सौ करोड़ रुपये का वाटर शेड कार्यक्रम चलाया जा रहा है। हाल ही में राजगढ़ जिले के कुछ सरपंचों ने यह प्रस्ताव एक स्वयंसेवी संस्था को दिया कि जिले में बहने वाली छापी नदी पर जगह-जगह लाखों रुपये की लागत से स्थापित डेम बना दिये जायें ताकि किसानों को सिंचाई के लिये पानी मिल सके। शासन इसे उनकी जागरूकता कह सकता है किन्तु हकीकत में वे अभिशप्त हैं। ये लोग अपनी पारम्परिक तकनीकें भूल चुके हैं। आज जिस काम के लिये वे लाखों रुपये की मांग कर रहे हैं वही कार्य वे स्वयं शून्य लागत से करते रहे हैं। 1947 के पहले राजसी दौर में राज्यादेश के अनुरूप राजगढ़ में हर तीन माह में हर किसान श्रमदान करके अपने खेत से लगे नदी, तालाब या नाले से हल चला कर खेत में पानी को बहने के लिये नाली बनाकर मार्ग देता था और समय-समय पर उसमें जमने वाली मिट्टी हटा देता था, यह परम्परा कई सदियों तक चलती रही परन्तु आज वाटर शेड के नाम पर जगह-जगह पर करोड़ों रुपये खर्च करके स्थापित डेम बनाये जा रहे हैं जो पांच साल बाद अपना नकारात्मक स्वरूप सामने लायेंगे जब उनकी उंचाई तक पानी में बह कर आई गाद और मिट्टी जम जायेंगी। तब एक और नई परियोजना चलाई जायेगी।

इसी संदर्भ को आगे बढ़ाते हुये हम यह भी कह सकते हैं कि औद्योगिकीकरण और सरकारी नीतियों ने कृषि को भी एक उद्योग बना दिया है। परन्तु भारतीय संस्कृति के अनुसार कृषि एक सामाजिक संस्कृति है। आज यह साफ देखने में आता है कि किसानों के बीच स्तर भेद बढ़ता जा रहा है। उद्योगपति 47 सौ एकड़ जमीन खरीद लेता और उसे किराये पर उठा देता है जबकि छोटा किसान इतना छोटा होता जा रहा है कि न तो उसके पास सिंचाई के साधन बचे हैं न फसल कटाई के। वह यदि कुयें से सिंचाई करता है तो पता चलता है कि आस-पास के उद्योगपति किसानों ने ट्यूबवेल लगा कर भूमिगत जल का इतना दोहन किया कि कुआं ही खाली हो गया। यदि हम पुनः सांस्कृतिक पहलू पर चर्चा करें तो दिखाई पड़ता है कि कुछ दशक पहले तक मध्यप्रदेश के गांवों में कृषि आधारित व्यवस्था के अन्तर्गत मजदूर और किसान के बीच एक मानवीय संबंध था। गुना जिले में यदि किसी किसान के खेत पर काम करने वाला मजदूर भूखा सोता था तो उसकी सार्वजनिक निन्दा होती थी और पंचायत के नियमानुसार उसके यहां कोई मजदूर काम करने नहीं जाता था तब उस किसान को 16 गांव दूर जाकर मजदूर लाने पड़ते थे। उस दौर में मजदूरी को मुद्रा में न माप कर अनाज और जीवन की बुनियादी जरूरतों की सामग्री से मापा जाता था पर 1980 के दशक के बाद फिर एक रणनीति के तहत ऐसा वातावरण बनाया गया कि मजदूरी के बदले मुद्रा दी जाने लगी। फिर इसके बाद किसान ने यह आकलन लगाना शुरू किया कि 50 रुपये रोज का मजदूर रखने से बेहतर है कि श्रेशर से खेत कटवा लिया जाये और फिर सामाजिक संबंध भी खत्म हुये और असमानता भी बढ़ने लगी। हमारा कहना निश्चित तौर पर यह भी नहीं है प्रदेश की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के कोई मायने नहीं हैं फिर भी यह शंका अब साकार रूप लेने लगी है कि भविष्य में अस्तित्व का स्वरूप बहुत अच्छा नहीं होगा।

आधुनिकीकरण का विरोध करना यूँ तो लाजिमी नहीं है फिर भी यह तो ईमानदारी से स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कृषि पद्धतियों के वैज्ञानिक स्वरूप ने कई सामाजिक और पर्यावरण संबंधी विसंगतियाँ पैदा की हैं। अब तक की भारतीय परम्परा पर यदि नजर डाली जाये तो यह स्पष्ट होता है कि खेतों की जुताई में बैलों की उपयोगिता केवल उसकी क्षमता और शक्ति को ही प्रतिबिंबित नहीं करती है अपितु उसके खुरों का आकार काफी छोटा होता है जिससे मिट्टी पर दबाव कम पड़ता है। और हल आंशिक रूप से दबी हुई मिट्टी को उर्वर-बनाता है। इस संदर्भ में जब से ट्रेक्टर ने खेतों में प्रवेश किया है तब से स्थिति में कई परिवर्तन आये हैं। ट्रेक्टर के पहिये और उसके भारी वजन के कारण जमीन पर ज्यादा दबाव पड़ता है तो भूमि ठोस होती जाती है और यह इतनी कठोर हो जाती है कि बरसात के पानी को सोखने की उसकी क्षमता नहीं रहती है। इसी कारण भूमि का जल स्तर निरन्तर घटता जा रहा है। अतः जो सामाजिक परिस्थितियाँ हमारे सामने खड़ी हो रही हैं उनसे यही संकेत मिलते हैं कि किसानों को अपनी पारंपरिक कृषि पद्धति की व्यावहारिकता और उसकी जरूरत का पुनः मूल्यांकन करना होगा।

यह एक कहानी ही है जो हमने शुरू की थी राजगढ़ के राधेश्याम सेन के नाम से। यही राधेश्याम सेन गवाह है कृषि की पद्धति और सामाजिक अर्थव्यवस्था के बदलते स्वरूप और बदलते सम्बन्धों का। राधेश्याम एक नाई है और जिस क्षेत्र से वह सम्बन्ध रखता है वहाँ प्रति वयस्क मजदूरी तय है 16 किलो अनाज। यहाँ एक नाई के कार्यक्षेत्र में 7 गांव हैं। हर दिन के लिये एक गांव। यदि एक गांव में औसतन 20 परिवार माने जायें तो राधेश्याम 140 परिवारों के लिये प्रति माह कार्य करता है और उसकी मजदूरी होती है 2240 किलो अनाज। इसके साथ ही हर सार्वजनिक कार्यक्रम के अवसर पर सौ किलो अनाज पर उसका अधिकार होता है। यह पद्धति बढ़ई, सुतार और अन्य वर्गों पर भी लागू होती रही है। एक दलित आंदोलन के फलस्वरूप उसे बराबरी का हक मिला और उसे मिली 10 एकड़ जमीन। पर उसने यही पाया कि यह सौदा घाटे का रहा। राधेश्याम ने बीच में बैंक में नौकरी शुरू की थी पर पांच साल में उसे व्यवस्था के उतार चढ़ाव ने खासा अनुभवी बना दिया और वह नौकरी छोड़ कर पुनः इस परम्परा का पालन करने चला आया। यह कहानी हमें एक दिशा तो दे ही सकती है उस समाज की ओर जिसमें राधेश्याम जैसे व्यक्ति को 2240 किलो अनाज मिलता हो (जिसका कृषि से कोई सरोकार नहीं है) और फिर हम तुलना कर सकते हैं उस समाज से जहाँ 6000 किसान आत्महत्या करते हैं।

egxh dher pdkrs fdl ku

बीस किलो की गोभी, पच्चीस किलो का बैंगन और 35 किलोग्राम वजनी पपीता, लोगों के लिए इस तरह की सब्जियाँ कोई नई बात नहीं है। संकर बीजों से उपजी यह नए तकनीकी जमाने की पैदावार है। मगर दिल्ली की आजादपुर सब्जी मंडी से रोजाना ताजी फल-सब्जी खरीदने के शौकीन अरुण भल्ला का दावा है कि अब खाने में वह स्वाद नहीं रहा, जो पहले हुआ करता था।

भारतीय किसानों के लिए छोटे से दायरे में ज्यादा पैदावार लेने से संकर बीज वरदान साबित हुए हैं। पर इसके कई नुकसान भी हैं, मसलन जमीन की उर्वरता में लगातार कमी, ज्वार, बाजरा और मक्का जैसी अन्य फसलों को उगाने में कठिनाई एवं रासायनिक खादों का बढ़ता इस्तेमाल, किसानों को उनकी जमीन से लगातार अलग करता जा रहा है। फिर भी अधिक कमाई के लालच में छोटे और मझौले किसान नकदी फसलों की तरफ ज्यादा ध्यान दे रहे हैं। नतीजतन पेटेंट बीजों का इस्तेमाल बढ़ रहा है। हाल में न्यूजीलैंड और भारत के बीच एक समझौता हुआ है, जिसके तहत देश में नाममात्र की कीमत पर फल-सब्जियाँ और दूध बेचने का प्रस्ताव है। बढ़ती जनसंख्या की वजह से जमीन पर दबाव बढ़ा है, जिससे खेतों का आकार लगातार घटता जा रहा है। ऐसे में विदेशी कंपनियों के संकर बीजों से अधिक पैदावार लेकर मुनाफा कमाने का लालच किसानों के लिए आगे चलकर विनाशकारी साबित हो सकता है।

भू-वैज्ञानिकों के मुताबिक नकदी फसलों को बढ़ावा देने और संकर बीजों को प्रोत्साहित करने की सरकारी नीति के चलते पारंपरिक कृषि को गंभीर खतरा हो सकता है। सोयाबीन की खेती से शुरू हुआ यह सिलसिला बाकी फसलों के साथ गेहूँ पर भी अपना असर छोड़ चुका है। देश में सबसे ज्यादा गेहूँ का उत्पादन करने वाला राज्य पंजाब अब अनाज का आयात करने की स्थिति में पहुंच गया है। अमेरिकी पेटेंट वाली मोनसान्तो कंपनी के बीज इस्तेमाल कर आंध्रप्रदेश के कपास उत्पादक किसान पहले ही बर्बाद हो चुके हैं, जबकि बिहार और उत्तरप्रदेश में

संकर बीजों से उपजे लाखों टन धान और आलू की फसल मांग के अभाव में बेकार पड़ी है। अर्थशास्त्री एन.के. मेनन कहते हैं कि साठ और सत्तर के दशक की हरित क्रांति के बाद से भारतीय कृषि की यह सबसे खराब हालत है। संकर बीजों से कम समय में ज्यादा पैदावार तो मिलती है, पर उससे जमीन पर इतना जोर पड़ता है कि बाकी के सीजन में उससे और कोई फसल नहीं ली जा सकती। मेनन के अनुसार यह स्थिति कृषि क्षेत्र में निवेश को उन्मुख विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिये तो लाभदायक है, पर भारतीय किसानों के लिये नहीं।

दरअसल इस सारी आफत के पीछे वे विदेशी कंपनियां जिम्मेदार हैं, जो एक सोची-समझी साजिश के तहत विदेशों में प्रतिबंधित बीजों को औने-पौने दाम पर भारतीय किसानों को बेच रही हैं। 'एक बार करो इस्तेमाल, रहो खुशहाल सालों-साल', के नारे के साथ जब कंपनियों के एजेंट रबी और खरीफ सीजन में किसानों को ये संकर बीज मुहैया कराते हैं, तब उन्हें मालूम रहता है कि उनका उपयोग करने वाला हर किसान भविष्य में उनका 'गुलाम' रहेगा। कुछ बीज तो ऐसे हैं, जिनकी पहली फसल काटने के बाद दुबारा उसी जमीन में कोई और फसल ऊगती ही नहीं, सिवाय उसी बीज के। इसी तरह प्रत्येक संकर बीज के लिए रासायनिक उर्वरकों का अपना एक खास अनुपात है लेकिन इससे जमीन की लवणता और उपजाऊ प्रवृत्ति में लगातार कमी देखने में आ रही है।

मेनन बताते हैं कि कई बड़ी विदेशी और भारतीयों के निजी हित भी किसानों को पारंपरिक खेती के रास्ते से भटकने को बजबूर कर रहे हैं। उनके मुताबिक, फिलहाल किसानों की नजर में सोयाबीन से अच्छी फसल और कोई नहीं। सिर्फ इसलिए क्योंकि एक फसल से जितना मुनाफा किसानों को होता है, उसका दस गुना सोया उत्पादों और तेल के रूप में बड़ी कंपनियों की जेब में चला जाता है। मगर इससे जमीन को होने वाले नुकसान की ओर ध्यान देने की फुरसत किसी को नहीं है। यही हाल बाकी तिलहन और दलहनी फसलों का भी है। सोयाबीन की एक फसल से जमीन में नाइट्रोजन की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि किसान के पास क्षतिपूर्ति के लिए सिवाय गेहूँ की फसल लेने के और कोई चारा नहीं बचता। उस पर भी अगर समय पर बरसात न हुई, तब किसानों को साल भर में एक फसल के साथ ही संतोष करना पड़ता है। यही वजह है कि ज्वार-बाजरा जैसी पारंपरिक फसलों की खेती सीमित होती जा रही है।

भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था को इस समय जैव तकनीकी से तैयार बीजों से भी लगातार नुकसान पहुंच रहा है। इसकी सहायता से एक सीमित क्षेत्र में पारंपरिक बीजों के मुकाबले काफी अधिक पैदावार मिलती है। मगर हर फसल के बावजूद बरसात का पानी जमीन में गहराई तक नहीं पहुंच पाता। नतीजा यह कि किसानों को सिंचाई के अतिरिक्त संसाधनों की जरूरत पड़ती है। जिन किसानों के पास सुविधा नहीं होती, वे अपनी फसल को भगवान भरोसे छोड़ना ही बेहतर समझते हैं। आहार विशेषज्ञों का मानना है कि जैविक एवं संकर बीजों से उत्पाद की पौष्टिकता में कटौती हो जाती है। आने वाले दिनों में जब बाजार में संकर बीजों से उपजे फल-सब्जियों की आवक बढ़ेगी, तब खरीदने वालों की सेहत पर भी इनका असर पड़ना लाजिमी है।

यही नहीं, किसानों को अगली फसल के लिए बीज सुरक्षित रखने में भी खासी दिक्कतें पेश आने लगी हैं पहले ज्यादातर किसान फसल के एक हिस्से के रूप में बीज बचाकर रखते थे, परन्तु अब उन्हें फिर से नए बीज लेने होते हैं, क्योंकि पुराने बीजों से उन्हें मनमाफिक पैदावार नहीं मिलती। इन सबके बावजूद कृषि वैज्ञानिक पैदावार बढ़ाने के लिए संकर और जैविक बीजों के ही ज्यादा इस्तेमाल के पक्षधर हैं। दूसरी तरफ किसान भी अधिक कमाई के लालच में उन्हीं के बताए रास्ते पर चल रहे हैं। बकौल मेनन, 'सरकार को मसले की गंभीरता पर विचार करना चाहिए। खासतौर पर इसलिए भी, क्योंकि आने वाले सालों में विदेशी कंपनियों का कृषि क्षेत्र में निवेश और बढ़ेगा। तब अमेरिकी प्रयोगशालाओं से निकलकर कुछ ऐसे बीज भी बाजार में आएंगे, जिनसे ली गई पैदावार को निर्यात के बजाय घरेलू बाजार में ही खपाना होगा।' हाल में अमेरिका भेजे गए भारतीय गेहूँ के नमूनों को इस वजह से रद्द कर दिया गया क्योंकि उसमें कीटनाशक डीडीटी के अंश पाए गए थे। भारतीय किसानों के लिए यह कोई नई बात नहीं है, लेकिन उन्हें शायद ही इस बात का पता है कि डीडीटी समेत अधिकांश कीटनाशकों के इस्तेमाल पर बाहर के देशों में पाबंदी है।

यह न तो मुक्त अर्थव्यवस्था का लक्ष्य है और न ही हरित क्रांति का। यह तो कृषि को उद्योग का दर्जा देने की तमाम कोशिशों का नतीजा है, जिसके तहत व्यावसायिक हितों के लिए भारतीय किसानों को जानबूझकर निशाना

बनाया जा रहा है ऐसे में अगर जल्द ही सरकार की ओर से कोई पहल नहीं की गई तो आंध्र एवं पंजाब की तरह अन्य राज्यों में भी किसान आत्महत्या के लिए मजबूर हो सकते हैं।

जैसे-जैसे सरकार की विकास की प्राथमिकताओं में से किसान और मजदूर उपेक्षित होते जा रहे हैं वैसे-वैसे इसका नकारात्मक प्रभाव भी साफ नजर आता जा रहा है। उदारीकरण के मूल सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुये सरकार अपनी नीतियों में बाजार और बाजार की बहुराष्ट्रीय पूंजीवादी कम्पनियों को ही विकास का सबसे सार्थक ध्वजवाहक मान रही है। यह समाज के लिये बहुत नुकसानदायक है। इसी का परिणाम है कि सरकार को अपनी जरूरत पूरी करने के लिये हानिकारक गेहूं आयात करने के लिये मजबूर होना पड़ा। दस फीसदी विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये बढ़ने वाले कदम कितनी खोखली जमीन पर पड़ रहे हैं; यह भी गेहूं आयात करने के निर्णय से पता चलता है। कृषि क्षेत्र हमेशा से भारत की सामाजिक अर्थव्यवस्था का आधार रहा है किन्तु सरकार इस पूरे क्षेत्र को जिस तरह खुले और निरंकुश बाजार को सौंप रही है उससे न केवल खाद्य सुरक्षा पर संकट आयेगा बल्कि किसानों के पूरे तबके का भविष्य भी असुरक्षित हो जायेगा।

1980 के दशक तक सरकार किसानों और कृषि क्षेत्र को नीतिगत संरक्षण देती थी किन्तु 1990 के दशक में सरकार ने खुले बाजार को संरक्षण देना शुरू किया। नीति के स्तर पर यह मान लिया गया कि खुले बाजार की प्रतिस्पर्धा में ही किसानों को टिकने की क्षमता विकसित होगी। दुख की बात यह है कि किसानों का बड़े स्तर पर अहित करने वाली नीति को लागू करते समय किसानों से नहीं बल्कि बाजार की कम्पनियों से सलाह मशविरा किया गया था।

पर्यावरण के उतार-चढ़ाव के कारण जुलाई 2005 से ही यह संकेत मिलने लगे थे कि इस मर्तबा कृषि उत्पादन, खासतौर पर खाद्यान्न की मात्रा में कमी हो सकती है। खाद्यान्न के उत्पादन में कमी तो आई किन्तु फिर भी 720 लाख टन खाद्यान्न के उत्पादन से यह तय था कि देश की जरूरतें तो पूरी हो ही पायेंगी। परन्तु सरकार ने खुले बाजार के भाड्यंत्र को पनपने दिया। उत्पादन में कमी की स्थिति को ध्यान में रखते हुये यह जरूरी था कि सरकार समय रहते अपने बफर स्टॉक (सार्वजनिक वितरण प्रणाली और जरूरत पड़ने पर खाद्यान्न जारी करने के लिये रखा जाने वाला सरकारी स्टॉक) के लिये अनाज की खरीदी कर लेती। परन्तु सरकार ने ऐसा नहीं किया। बफर स्टॉक के लिये 150-160 लाख टन अनाज की जरूरत थी परन्तु यह घटते-घटते मार्च में 42 लाख टन पर आ गया। तब भी सरकार की नींद नहीं खुली। वास्तव में सरकार सोई नहीं थी बल्कि सोने का नाटक कर रही थी। सरकारी खाते में अनाज की कमी को आधार बनाकर खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति मंत्रालय ने गरीब और अति गरीब परिवारों को मिलने वाले राशन में 5 किलो की कटौती करने का फेसला कर लिया था। सरकार उनका पेट काटकर साढ़े चार हजार करोड़ रुपये बचाना चाहती थी क्योंकि उस पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दबाव है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बंद करने की प्रक्रिया शुरू कर दी जाये। जन आंदोलनों और वामपंथियों के दबाव में सरकार को इस कदम से पीछे हटना पड़ा।

एक तरफ तो सरकार ने अपनी तरफ से बहुत ही उदासीन रुख अपनाया तो वहीं दूसरी ओर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने बाजार में आने वाले उत्पाद (खास तौर पर गेहूं) की धड़ाधड खरीद की। प्रतिस्पर्धा के खेल में सरकार जानबूझकर हारती है यह इस मर्तबा सिद्ध हो गया। सरकार ने किसानों से गेहूं खरीदने के लिये जो न्यूनतम समर्थन मूल्य तय किया है वह किसानों की उत्पादन लागत से बहुत ही कम है। किसान मानते हैं कि 650 रुपये प्रति क्विंटल गेहूं सरकार को बेचने का मतलब है न्यूनतम मजदूरी के बराबर लाभ प्राप्त करना। अब कीटनाशकों, बीजों, उर्वरकों और कृषि उपकरणों पर सरकार की रियायतें न केवल खत्म हो गई हैं बल्कि बाजार में उर्वरक, बीज और कीटनाशक बेचने वाली कम्पनियों पर भी सरकार कोई कानूनी अंकुश नहीं लगा रही है। उन्हें मनमर्जी के प्रयोग करने और लाभ कमाने की छूट दे दी गई है जिससे किसानों की कृषि लागत में भारी वृद्धि हुई है। पिछले दस सालों में कार या महल खरीदने के लिये मिलने वाले ऋण पर ब्याज की दरों में 300 फीसदी से ज्यादा कमी आई है परन्तु किसानों को आज भी 14 से 20 फीसदी ब्याज दर पर ही कर्ज मिलता है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण ने भी यह सार्वजनिक रूप से कहा है कि देश के 50 फीसदी किसान भारी कर्ज में दबे हुये हैं। आंध्रप्रदेश के बाद, पंजाब, हरियाणा, विदर्भ और मध्यप्रदेश में किसान आत्महत्या कर रहे हैं। यह भारतीय इतिहास

की पहली मिसाल है जब देश- समाज का पेट भरने वाले किसान खुद भुखमरी का शिकार हो रहे हैं। किसानों की स्थिति भिखारियों जैसी बना दी गई है। सरकार ने पहले गेहूं का न्यूनतम समर्थन मूल्य 650 रुपये प्रति क्विंटल तय किया था तब मध्यप्रदेश में आईटीसी, कारगिल जैसी कम्पनियों ने 650 रुपये का बोनास जोड़ दिया गया तो निजी कम्पनियों ने 710 रुपये पर गेहूं खरीद कर अपने गोदामों में भर लिया। यह एक तथ्य है कि इस मर्तबा मध्यप्रदेश की मण्डियों का 70 फीसदी गेहूं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ही खरीदा है। किसानों को मकड़ी के जाल में फंसाकर बाजार ने आम आदमी को दबोचने का काम शुरू किया। पिछले साल जहां साढ़े सात सौ रुपये के हिसाब से अच्छा गेहूं बाजार में मौजूद था; वहीं इस साल ग्यारह सौ रुपये के स्तर से नीचे नहीं उतर रहा है। और चूंकि सरकार के गोदाम भी खाली है इसलिये वह भी अब माथे पर बल लिये बैठी है।

किसानों के लिये यह सरकार बेवफा सी ही है। पहले तो किसानों को ही उनकी उत्पादन लागत के हिसाब से समर्थन मूल्य नहीं मिला। किसानों से सात सौ रुपये प्रति क्विंटल के हिसाब से गेहूं खरीदा गया किन्तु आस्ट्रेलिया की ए.डब्ल्यू.बी. लिमिटेड से एक हजार रुपये प्रति क्विंटल के मान से गेहूं खरीदा जा रहा है। उसके लिए गुणवत्ता के भी कोई मापदण्ड नहीं है किन्तु मध्यप्रदेश का किसान जब मण्डी में अपना गेहूं लेकर जाता है तो दाना-दाना मापा जाता है। आप यह जरूर जानें कि अब सरकार के गोदाम से जो अनाज आप की थाली में पहुंचेगा उसमें घातक कीटनाशक भी होंगे। आस्ट्रेलिया से जो गेहूं आया है उसमें निर्धारित मात्रा से 50 गुना ज्यादा कीटनाशक पाया गया है। इस आयातित गेहूं में सिकोरियम नामक खरपतवार और एरगोट नामक फफूंद भी मौजूद है। इसके बावजूद भारतीय अनुसंधान एजेंसियों ने इस गेहूं को स्वीकार कर लिया। आस्ट्रेलिया की यह कम्पनी अनाज निर्यात के लिये सरकारों में बैठे अफसरों – नेताओं को रिश्वत देने के लिये भी जानी जाती है। 1960 के दशक में अमेरिका से आये पीएल – 480 गेहूं के साथ गाजरघास खरपतवार भी भारत आई थीं, जो अब भारतीय किसानों के लिए एक बड़ी समस्या है। और हाल ही में अफ्रीका यूजी-99 के भीषण संकट से जूझ रहा है। तो ऐसी स्थिति में गेहूं के आयात का निर्णय हमारे सामने घातक संकेत पेश करता है। यह भी एक सवाल है कि जब 1999-2000 में हमारे यहां 762 लाख टन गेहूं का उत्पादन हुआ था। और यदि देश की विकास दर 8 फीसदी है तो यह उत्पादन बढ़कर 800 लाख से ज्यादा होना चाहिये था परन्तु इसके विपरीत यह घटकर 720 लाख टन ही रह गया।

मुद्दा यहीं खत्म नहीं होता है अब तक तो सरकार अपने लिये गेहूं आयात कर रही थी किन्तु अब तो वह निजी कम्पनियों को भी ओपन जनरल लाइसेंस के तहत आयात करने की अनुमति दे रही है। इसके साफ मायने हैं कि सीनीय किसानों को अब अपने बाजार में दूसरे देशों के किसानों से प्रतिस्पर्धा करनी होगी। जहां वे किसी भी सूरत में टिक नहीं पायेंगे। इसका कारण यह है कि विकसित देशों में किसानों को एक क्विंटल उत्पादन पर दस हजार रुपये की सरकारी सब्सिडी मिलती है और यदि वे 300 रुपये में भी अपनी फसल बेचेंगे तो भी उन्हें फायदा ही होगा। वहीं दूसरी ओर हमारे सीनीय किसान ऊंची ब्याज दरों, ऊंची बिजली की दरों, ऊंची पानी की दर, नकली बीज और मंहगे फर्मीलाइजर या कीटनाशक के कारण कम मूल्य पर अपनी फसल नहीं बेच पायेंगे। दूसरे अर्थों में हमारे किसान अस्तित्व के संकट के दौर से गुजर रहे हैं और विडम्बना यह है कि उन्हें अपनी ही सरकार का संरक्षण नहीं मिल रहा है। इसका स्वाभाविक परिणाम यही नजर आता है कि निकट भविष्य में खेती की जमीनें बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सम्पत्ति होंगी और किसान उन पर मजदूरी करते नजर आयेंगे।

3 df"k vkj Hkue.Myhdi.k

कृषि केवल एक आर्थिक व्यवहार नहीं है बल्कि समाज की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के साथ-साथ इससे एक सामाजिक व्यवस्था का पोषण भी होता है। दुनिया के इतिहास की जब हम बात करते हैं तो मानव द्वारा कृषि तकनीक के आविष्कार को एक क्रांति के रूप में दर्ज करते हैं। यह तकनीक के साथ जुड़ा हुआ मसला तो है ही पर साथ ही इसका जुड़ाव सांस्कृतिक-सामाजिक पक्षों से भी है। इसे एक पारम्परिक व्यवहार के साथ ही परिभाषित किया जाता है, पर भूण्डलीकरण की प्रक्रिया में इस क्षेत्र को बड़े फायदे के रूप में जाना-पहचाना गया है। और सबसे बड़ा प्रभाव आज यह है कि कृषि को खाद्यान्न और गैर-खाद्यान्न उत्पादन में बांटा जा चुका है। अब से चार-पांच दशक पहले तक खाद्यान्न उत्पादन बढ़ा कर समाज की जरूरतों को पूरा करना नीतियों का लक्ष्य था पर अब गैर-खाद्यान्न यानी खासतौर पर नकद फसलों का उत्पादन अहम लक्ष्य है क्योंकि इसमें आर्थिक लाभ ज्यादा दिखाया जाता है। भारत में 1993 से 2003 के बीच एक लाख किसानों ने आत्महत्या की यह आंकड़ा अपने आप में बताता है कि किस तरह भूण्डलीकरण ने किसानों के सामने जीवन का संकट पैदा किया है।

वर्ष 1984-85 में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने कहा था कि यदि अमेरिका में कृषि को फायदे का सौदा नहीं बनाया गया तो देश की अर्थव्यवस्था भारी सबसिडी के कारण तहस-नहस हो जायेगी। चूंकि अमेरिका में सबसिडी के कारण उत्पादन तो हो रहा था परन्तु अमेरिका और यूरोपीय देशों में बहुत बड़ा बाजार नहीं था इसलिये किसानों को भी उनके उत्पादन का दाम नहीं मिला। और वहीं से यह विश्लेषण उभर कर आया कि अमेरिकी और यूरोपीय देशों के उत्पादन और तकनीक के लिये विकासशील देशों में बाजार खोजा और स्तूपित किया जाये। यहीं से विश्व व्यापार संगठन की आधारशिला पड़ी। हम साफ तौर पर देख सकते हैं कि विकसित देशों की जरूरतों को पूरा करने और फायदा दिलाने के लिये ही विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी.ओ) अस्तित्व में आया। दुनिया के दूसरे देशों को आर्इने में फायदा दिखाने का काम विश्व बैंक के जरिये किया गया। सबसे शुरूआती दौर में विश्व बैंक यह बताता रहा कि विश्व व्यापार संगठन से कुल 832 बिलियन डालर का फायदा होगा और इसमें से 510 बिलियन डालर का लाभ विकासशील देशों को मिलेगा। इसके बाद हांगकांग में विश्व व्यापार संगठन की समझौता बैठकों के बाद यह विश्लेषण नये सिरे से किया गया। इस विश्लेषण से पता चला कि डब्ल्यू.टी.ओ. से कुल 30 बिलियन डालर का कुल फायदा होगा जिसमें से 110 विकासशील देशों को कुल 6.7 बिलियन डालर मिलेंगे। भारत को तो वैसे ही इससे ज्यादा फायदा मिलता है, तो इसका मतलब है कि अब उसका अपना (भारत का) फायदा बाजार के खाते में जायेगा।

भारत में कृषि व्यवस्था पर बाजार का नहीं बल्कि पारम्परिक कृषक समाज का नियंत्रण रहा है और कृषक समाज व्यापक समाज का छोटा सा हिस्सा नहीं है बल्कि 80 फीसदी लोग इससे जुड़े हुये हैं। इसका मतलब यह है कि कृषि व्यवस्था पर यदि नकारात्मक प्रभाव पड़ता है तो इससे 80 फीसदी लोग इससे सीधे प्रभावित होंगे।

कृषि उत्पादन के जरिये आत्मनिर्भरता भारतीय राज व्यवस्था का राजनैतिक सिद्धान्त रहा है। इस सूचना पर बहुत बहस होती रही है कि कृषि उत्पादन को बढ़ाना सबसे बुनियादी जरूरत है और कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिये यह बताया गया कि हमें अपनी पारम्परिक कृषि पद्धतियों और तकनीक को बदलना होगा। बार-बार यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि भारत में जितनी जमीन और संसाधनों का उपयोग होता है उसके अनुरूप उत्पादन नहीं होता है। इससे न तो किसानों को फायदा होता है न ही समाज को। इसलिये कृषि क्षेत्र में सुधार की जरूरत है। इसी सुधार की सोच के आधार पर 1960 के दशक में हरित क्रांति की नींव पड़ी। हरित क्रांति ने कृषि क्षेत्र में तकनीक और कीटनाशकों / उर्वरक के उपयोग को बढ़ावा दिया। इससे उत्पादन तो बढ़ा पर साथ ही लागत भी बढ़ी परन्तु बाजार की असुरक्षा का नकारात्मक प्रभाव किसानों पर पड़ना शुरू हुआ।

भूण्डलीकरण ने भारत की कृषि के बुनियादी जुमलों को लक्ष्य में लिया। भारत में कृषि को मानसून का जुआ कहा जाता रहा है और पिछले दो दशकों से कृषि विज्ञान के छात्रों को यह पढ़ाया जा रहा है कि इस जुये से मुक्त होने के लिये हमें अमेरिकी कृषि विज्ञान का पालन करना होगा। हरित क्रांति के दौरान उर्वरक, कीटनाशक

के संकट और ट्रेक्टर जैसी भारी मशीनरी के कृषि सुधार से किसानों और समाज को फायदा होगा। किन्तु दूसरा पक्ष यह है कि उर्वरक, कीटनाशक, मशीनों और ट्रेक्टर का बाजार भी बहुत बड़ा है। उन्हें भी फायदा दिलाना मकसद रहा, यह मकसद अब खुले बाजार का प्राथमिक लक्ष्य बन गया। कृषि व्यवहार और तकनीकों में किस तरह बदलाव हुआ इसका एक उदाहरण धान की खेती की प्रक्रिया में आये बदलाव के रूप में देखा जा सकता है। पहले तो खेत में व्यापक रूप से धान के पौधों की बुआई की जाती थी परन्तु जब ट्रेक्टर के उपयोग को प्रोत्साहित किया गया तो बुआई के तरीके में भी बदलाव करना पड़ा। अब एक सीधी लाईन में निर्धारित अंतराल पर पौधे बोये जाते हैं ताकि ट्रेक्टर खेत में चल सके। इसी तरह पहले बहुत ही सीमित मात्रा में कीट या बीमारियां कृषि को नुकसान पहुंचाती थी और तब सिंचाई के स्रोतों के साथ ही कीटनाशकों या उर्वरकों का छिड़काव किया जाता था परन्तु जब नई कम्पनियां बाजार में आईं तो उन्होंने सबसे पहले कृषि विश्वविद्यालयों को अपने प्रभाव में लिया। इन संस्थानों को नई तकनीक का चमकदार ज्ञान दिया गया और कुछ अध्ययन इस ढंग से करवाये गये जिनसे यह सिद्ध होता था कि उत्पादन बढ़ाने के लिये किसानों को नये उपकरणों का उपयोग करना चाहिये। इतना ही नहीं यह बताया गया कि सेब, अनार, मक्का और गेहूं पर दवाओं का छिड़काव करने के लिये अलग-अलग तरह के नोजल का उपयोग करना चाहिये अन्यथा छिड़काव का कोई फायदा नहीं होता है पर बाद में पता चला कि यह कोई जरूरी नहीं है।

इसी दौरान बीजों के उन्नयन और बेहतर बनाने के लिये भी कई कम्पनियां बाजार में आईं। एक पारम्परिक व्यवस्था में किसान अपने उत्पादन में से बेहतर, साफ, निश्चित आकार वाले बीजों का चुनाव करके सुरक्षित रखता रहा है। बाजार ने विश्लेषण किया कि जब तक किसानों के इस व्यवहार को नहीं बदला जायेगा तब तक बीजों का बाजार खड़ा नहीं हो पायेगा। तब बेहतर बीज, संकर बीज और जैव परिवर्धित (बीटी बीजों) की एक प्रक्रिया शुरू हुई अध्ययनों से सिद्ध करने की कोशिश की गई कि वर्तमान बीजों से उत्पादन कम होता है और बीमारियों का प्रकोप ज्यादा होता है इसलिये बीजों के चरित्र में बदलाव लाने की जरूरत है।

सबसे पहले कई कीटनाशकों को विकल्प के रूप में पेश किया गया। पर कीटनाशकों का प्रभाव धीरे-धीरे कीटों पर कम होता गया और उनकी प्रतिरोधक क्षमता ज्यादा ठोस होती गई। जब कीटनाशकों का विकल्प असफल हुआ तो जैव परिवर्धित बीजों का विकल्प रखा गया। बाजार ने बताया कि अब हम बीजों में ही ऐसे रसायन डाल देंगे जो कीटों का प्रकोप नहीं पड़ने देंगे। इन बीजों की फसल के लिये विशेष किस्म के कीटनाशक तैयार किये जायेंगे। उन पर दूसरी किस्म के कीटनाशक काम ही नहीं करेंगे। इससे एक ही कम्पनी (जो बीज बनायेगी वही कीटनाशक भी बेचेगी) की सत्ता स्थापित होना शुरू हुई। कृषि सुधार की राजनीति का प्रभाव अब हमें नजर आने लगा है। 1960 में कपास के बीजों को 6 तरह के कीट परेशान करते थे पर 2006 में 60 तरह के कीट परेशान करते हैं और हर कीट की क्षमता फसल बर्बाद कर देने की है।

1987 में सबसे पहले बाजारवाद का प्रत्यक्ष प्रमाण देखने को मिला जब आंध्रप्रदेश के वारंगल जिले में 37 किसानों ने आत्म हत्या की। ये सभी कपास के किसान थे और फसल पर कीटों के प्रकोप के कारण 20-20 छिड़काव करने पड़े। इससे फसल की लागत इतनी बढ़ी की उनके जीवन की उम्मीदें भी खत्म कर दी।

भूमण्डलीकरण की नीति यह है कि किसान अपनी मर्जी से खेती न करे बल्कि वह बाजार की जरूरत पूरा करने के लिये खेती करे। लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि गेहूं की फसल पैदा करना फायदेमंद नहीं है क्योंकि इसके ऊंचे दाम नहीं मिलेंगे इसके बजाये किसानों को चैरी उगाना चाहिये, जेट्रोफा उगाना चाहिये क्योंकि इसका बड़ा बाजार है। इसके बाद ही किसान को आर्थिक लाभ मिलेगा। यह तो किसान का पक्ष हुआ, कम्पनियों ने सरकार को भी समझाया कि जब किसान ज्यादा लाभ कमायेंगे तो सरकार को कम सबसिडी देना पड़ेगी। इसके बाद जब कीटनाशक, बीज, मशीन, ट्रेक्टर और पानी का भी बाजार बढ़ेगा जिससे सरकार को भी राजस्व मिलेगा।

vefjdh j.kuhfr vkj | cfl Mh dk ekeyk

भूमण्डलीकरण की शुरुआत विकसित यूरोपीय देशों और अमेरिकी रणनीतिकारों के दिमाग की उपज है। अतः जरूरी है कि अमेरिका की भूमिका को समझना भी बहुत जरूरी है। विश्व व्यापार संगठन का सबसे अहम लक्ष्य कृषि क्षेत्र में सबसिडी कम करवाना है ताकि सरकार का बाजार में दखल न रहे। हमें यह ध्यान रखना होगा कि सरकार के कृषि क्षेत्र में सबसिडी खत्म करने के साथ ही नीतियों और कानूनों का प्रभाव भी खत्म हो जायेगा। अमेरिका का लक्ष्य है कि विकासशील देश की सरकारें किसानों को रियायत देना बंद करे परन्तु अमेरिका अपने किसानों को सबसिडी देना जारी रखेगा। इसका मतलब है कि अमेरिकी किसान खुले बाजार में अपनी फसल सस्ते में बेच पायेगा जिससे भारतीय किसान के उत्पादन को दाम नहीं मिलेगा। यूं तो कृषि लागत दोनों देशों में बराबर ही आयेगी किन्तु सरकार की सबसिडी के कारण अमेरिकी किसान मुफ्त में भी अपनी फसल बाजार में छोड़ सकते हैं। रणनीति यह है कि जब भारतीय किसान कमजोर होकर खत्म हो जायेंगे तब अमेरिकी कम्पनियां बाजार में उतर कर एक छत्र शासन करेंगीं। प्रतिस्पर्धा के अभाव में वे जो दाम भेजेंगी वह खरीददारों को चुकाना ही होगा।

वास्तव में वैश्विक कृषि व्यवस्था को तहस-नहस करके अमेरिका अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता है। भारत के संदर्भ में यह नये सिरे से उपनिवेशवाद की शुरुआत होगी। सिर्फ यही कारण है कि अमेरिका पूरी ऊर्जा के साथ कृषि भूमण्डलीकरण की राजनीति में जुटा हुआ है। वहां किसानों का हित कोई मायने नहीं रखता है। इसे आंकड़ों में भी देखा और समझा जा सकता है। वर्ष 2002 में अमेरिका में कुल 9 लाख किसान थे जो वर्ष 2004 में घट कर 7 लाख रह गये। यह वहां की कुल जनसंख्या का एक फीसदी से भी कम है। इसके विपरीत अमेरिकी जेलों में 21 लाख लोग बंद हैं। इसका एक अर्थ यह है कि कृषि वहां का मूल कारोबार नहीं है और दूसरा अर्थ यह है कि अमेरिका में हर रोज दी जाने वाली 1 बिलियन डालर की कृषि सबसिडी का फायदा किसानों को नहीं बल्कि बहुराष्ट्रीय व्यापारिक संस्थानों को मिलता है। यही कारण है कि अमेरिका में कृषि कम्पनियां बढ़ रही हैं और एक लाख किसान खेती छोड़ रहे हैं। अमेरिकी सिद्धान्त यह है कि दुनिया पर लाखों किसानों के जरिये शासन नहीं किया जा सकता पर पांच बड़ी कम्पनियां विकासशील देशों को आसानी से गुलाम बना सकती हैं। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये बाजार ने कृषि क्षेत्र को तीन हिस्सों में बांटा है –

1. **China & बीजों का उत्पादन आर वितरण** बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अपने हाथ में रखा है। इसमें मानसेंटो प्रमुख है।
2. **Oil & कृषि उत्पादन पर नियंत्रण** के साथ-साथ व्यापार के काम में सीधा दखल रखा है। कारगिल कम्पनी दुनिया के 60 प्रतिशत कृषि व्यापार पर नियंत्रण रखती है।
3. **India & कृषि उत्पाद को ऊंचे मानकों के साथ उपयोग के लायक बनाने के लिये** अब यह उद्योग तेजी से बढ़ रहा है। पेप्सी, कोका कोला और रिलायंस जैसी कम्पनियां सीधे इसमें प्रवेश कर रही हैं।

अब देश की कृषि नीति, व्यापार और उद्योग नीति के साथ जलनीति भी यह ध्यान देते हुये बनेगी कि कृषि क्षेत्र के उपरोक्त तीनों हिस्सों में बाजार को प्रोत्साहन मिले। किसान अब महत्वपूर्ण नहीं हैं।

4 तब च्कस| क्खदध दस [क्र]स

D; k gS tufud ; kf=dh %tufVd bathfu; fjx½ vkSj ml | s cuk chT \ - वास्तव में जननिक प्रक्रिया क्या है या फिर अनुवांशिकी के अर्थ हमारे लिये क्या हैं? लाखों वर्षों की चरणबद्ध प्रक्रिया से गुजर कर इस पृथ्वी पर जीवन का विकास हुआ है। पेड़-पौधों और जानवरों ने अपनी विशेषताओं को बरकरार रखने के लिये अपने गुणधर्मों का अपनी आने वाली पीढ़ियों तक प्रसार किया है ताकि उनकी अपनी प्रजातियों से समानतायें एवं विशेषतायें समाप्त न हो जायें। इसी तरह आपने भी अपने भीतर माता-पिता की विशेषताओं को निश्चित स्वरूप में पाया है, आपकी सन्तानें आपकी विशेषतायें हासिल करेंगी। हो सकता है कि आपकी लम्बाई पिता की लम्बाई के अनुरूप हो किन्तु मुस्कुराने का ढंग और चेहरे का आकार माँ के चरित्र से जुड़ा हो, इसी तरह जीवन का विकास हुआ और समानता बरकरार रही। जरा सोचें कि ऐसे कौन से चरित्र या विशेषतायें हैं जिनका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक प्रसार हो रहा है और कैसे? मूलतः यह प्रकृति की अद्भुत क्षमता ही है कि कई प्रकार की विशेषताओं से भरा पूरा वृक्ष एक छोटे से, कई बार न दिखाई पड़ने वाले बीज में समाया रहता है जिसका जन्म पहले वाले वृक्ष की उत्पादक क्षमता से हुआ है। और उसमें समाये हुये नये वृक्ष का जन्म वातावरण, मिट्टी की प्रकृति और बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। यदि किसी कारणवश वह जमीन अपनी नमी खो देती है तो वृक्ष ठोस न होकर रेशेदार स्वरूप अपना लेगा। इसका सीधा अर्थ यह है कि जमीन और मिट्टी के स्वरूप का प्रभाव पेड़-पौधों एवं वनस्पतियों पर भी पड़ता है।

इस प्रकार के नैसर्गिक विकास के फलस्वरूप जीवन के स्वरूप में विविधता आई है, जिसे पृथ्वी पर जैव विविधता कहा जाता है। भारत की भूमि पर कई प्रजातियों के पेड़-पौधे, वनस्पतियां एवं जानवर पाये जाते हैं। इन सभी का जन्म एकाएक नहीं हुआ है अपितु इनका अस्तित्व, विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम है। इस विकास में सबसे अहम और बुनियादी भूमिका डी.एन.ए. निभाता है। डी.एन.ए. का स्वरूप विश्व में किसी भी देश के नक्शे के समान हो सकता है। नक्शा (अर्थात् डी.एन.ए.) विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप अस्तित्व बनाये रखने के लिये अपना स्वरूप परिवर्तित करता है। डी.एन.ए., जिसे हम एक नक्शे के रूप में परिभाषित कर रहे हैं, का निर्माण कई जीन से मिलकर होता है। वास्तव में जीन का आकार डी.एन.ए. में ठीक उसी प्रकार का होता है जिस तरह किसी देश के नक्शे में छोटे-छोटे राज्यों का होता है, यानी अनिश्चित और असमान। डी.एन.ए. में पाये जाने वाला हर जीन अपने आप में डी.एन.ए. में मौजूद सभी प्रकार की विशेषतायें समेटे रहता है। जिस तरह किसान एक पेड़ पर लगे टमाटर को देखकर सैकड़ों एकड़ में फेली फसल की विशेषता, स्वाद, आकार और गुणवत्ता का अनुमान लगा लेता है, ठीक वैसे ही एक जीन का अध्ययन करके डी.एन.ए. अथवा पेड़, जानवर या व्यक्ति के बारे में अध्ययन किया जा सकता है। डी.एन.ए. हर बीज, हर जानवर और प्रत्येक मनुष्य की हर कोशिका में पाया जाता है। मूलतः यह विज्ञान का चमत्कार है कि आज हमें यह अद्भुत जानकारी हासिल है किन्तु घातक कीटनाशक रसायन बनाने वाली कम्पनियों ने कई जीवन दांव पर लगाकर इसे अनुचित लाभ अर्जित करने का साधन बना लिया है।

dS s dk; l djrh gS tufVd bathfu; fjx \ - इन पेस्ट कन्ट्रोल रसायनों का उत्पादन करने वाली आर्थिक रूप से सम्पन्न कम्पनियों ने जननिकी यांत्रिकी के अन्तर्गत अपने रासायनिक कारखानों में वैज्ञानिकों, जैव तकनीकीविदों और अति शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शियों (जो किसी भी कण को 50 हजार गुण ढाढ़ा करके दिखा सकते हैं) की मदद से पेड़-पौधों एवं जानवरों के मूल व्यवहार और गुणधर्म के केन्द्र की पहचान करने के सफल प्रयास किये हैं, ताकि अपने आर्थिक हितों के अनुसार उनमें परिवर्तन कर सकें। कितने आश्चर्य की बात है कि अब क्षणिक हितों के लिये हम प्रकृति से टकराने के लिये खड़े हो गये हैं। बीज, उर्वरक और कीटनाशक बनाने वाली यह कम्पनियां बीजों के भीतर पनपने वाले डी.एन.ए. या जीन को निकाल कर किसी दूसरे प्रकार के बीज में प्रविष्ट करा देती हैं जिससे उनका मूल स्वरूप प्रकृति स्वरूप परिवर्तित हो जाता है। किसी सीमा तक यह प्रक्रिया ठीक उसी तरह है जिस तरह एक किसान नाशपाती के पेड़ की कलम सेब के पेड़ से बांधकर नाशपाती का उत्पादन कर सकता है जबकि पेड़ सेब का है। इसी तरह क्लोनिंग भी संभव है जिसमें वृक्ष के एक तने को काटकर और कटे हुये भाग को हल्का सा छीलकर जमीन में रोप दिया जाता है, कुछ दिनों में नई जड़ें फूट पड़ती हैं और एक स्वतंत्र और नैसर्गिक वृक्ष का विकास होने लगता है। इन प्रक्रियाओं में वृक्ष अपना बुनियादी

और प्राकृतिक स्वरूप नहीं खोता है। यह बात भी स्वीकार की जा सकती है कि मनुष्य के प्रयासों के बिना कलम नहीं बांधी जा सकती है न ही क्लोनिंग संभव है, यह प्राकृतिक भी नहीं है किन्तु इन तकनीकों का उपयोग बाहरी स्वरूप के आधार पर किया जाता है। इनसे वृक्ष के गुणधर्म प्रभावित नहीं होते हैं और न ही प्राकृतिक जैव विविधता का संतुलन बिगड़ता है।

कुछ बड़े व्यावसायिक संस्थान अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए स्वरूप बदलते रहने वाले डी.एन.ए. का आर्थिक लाभ कमाने के लिए दुरुपयोग कर रहे हैं। इसी मोड़ पर जीवन के प्राकृतिक स्वरूप से भी टकराव की स्थिति उत्पन्न हो रही है क्योंकि जैव तकनीक एवं डी.एन.ए. के दुरुपयोग से प्रकृति द्वारा निर्धारित की गई जीवन एवं जनन संबंधी प्रक्रिया प्रभावित हो रही है। जैव वैज्ञानिक अपने शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शियों के सहयोग से किसी बीज या जानवर के भीतर से डी.एन.ए. निकाल दूसरी प्रजाति के बीज या जानवर में प्रत्यारोपित कर देते हैं जिससे बीज का मूल स्वरूप, जो कि वास्तव में प्रकृति ने निर्धारित किया है, बदल जाता है। उदाहरण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि जननिक यांत्रिकी के जरिये टमाटर के स्वाद को निर्धारित करने वाले जीन को आलू के बीज में प्रविष्ट कराया जाता है, जिससे आलू के स्वाद वाले टमाटर का उत्पादन होगा। जैव वैज्ञानिक एक जानवर के गुणधर्मों (जीन) को वृक्ष में भी प्रत्यारोपित कर सकते हैं या उसका उल्टा भी हो सकता है। इस तरह विभिन्न प्रजातियों की संख्या और जरूरत की नैसर्गिक संरचना में असंतुलन पैदा होगा। लोग केवल आम के वृक्ष उगाना चाहेंगे और इसके लिये नीम एवं पीपल के वृक्ष समाप्त कर दिये जायेंगे।

gdhDr D; k gS – आप यह सोचते हैं कि जैव प्रौद्योगिकी के जरिये तैयार किये गये बीजों से ज्यादा किस्मों के उत्पादन की संभावना है परन्तु हकीकत यह है कि अमेरिका की कुछ जैव प्रौद्योगिकी कम्पनियां अपने लाभ के लिये ऐसे बीजों एवं रसायनों का उत्पादन कर रही हैं न कि कृषकों के कल्याण के लिये। ये कम्पनियां विश्व के कृषकों को एकाधिकार के जरिये अपने ऊपर निर्भर बना लेना चाहती हैं। इतना ही नहीं सरकार और संस्थाएँ भी उनके इन घातक बीजों को बेच रही हैं। वास्तव में जैव प्रौद्योगिकी प्रकृति के जीवन निर्माण संबंधी कौशल को मानव द्वारा नियंत्रित किये जाने का प्रयास है जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लक्ष्य को लेकर रासायनिक कीटनाशकों एवं बीजों का निर्माण करने वाली बहुराष्ट्रीय व्यावसायिक संस्थाएँ कृषि उत्पादों एवं पशु संसाधनों के अनुवांशिकीय चरित्र एवं पुनर्उत्पादन क्षमता को सीमित कर देना चाहते हैं। इसके साथ ही उनका यह प्रयास है कि ऐसे बीजों एवं तकनीक का आविष्कार किया जाये जिससे पूरी दुनिया के किसान और पशु पालक उन पर पूर्ण रूप से निर्भर हो जायें। अब तक के अनुभवों से यह ज्ञात होता है कि जननिकी यांत्रिकी (जीवन को एक नियमित शृंखला का स्वरूप देने वाली प्रवृत्ति एवं प्रकृति को मानव द्वारा नियंत्रित करने के प्रयास के अन्तर्गत प्रयोग में लाई जाने वाली ऐसी तकनीक, जिसका सबसे अधिक उपयोग, कृषि, पर्यावरण एवं पशु पालन के क्षेत्र में होता है) के फलस्वरूप तैयार किये गये बीजों एवं रासायनिक कीटनाशकों का उपयोग करने के कारण कृषि भूमि की प्राकृतिक नमी में निरन्तर कमी हो रही है। ऐसे बीजों से उत्पन्न होने वाले फल, फूल एवं सब्जियों में न केवल घातक तत्व पाये जा रहे हैं अपितु उनमें पौष्टिक पदार्थों की कमी भी हो गई है। इसके अतिरिक्त आरम्भ में तो इन बीजों से ज्यादा उत्पादन हो सकता है किन्तु धीरे-धीरे इससे जमीन की उर्वरता समाप्त होती जाती है और उत्पादन कम होता जाता है।

dS s gks jgk gS fouk'k \ – विनाश की इसी शृंखला में एक और उदाहरण ऐसे जीन का है जिसके जरिये बीजों की उत्पादन क्षमता सीमित कर दी गई है। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इस विनाशक जीन को कपास, आलू, तम्बाकू और सोयाबीन के प्राकृतिक बीजों में प्रत्यारोपित कर दिया है। इस प्रकार के जीन का आशय यह है कि जो बीज इस जीन से प्रभावित होगा उससे पुनः प्राप्त बीजों से नई फसल हासिल नहीं की जा सकेगी। यानी, कृषकों को खेती से ऐसे बीज मिलेंगे जिनकी पुनर्उत्पादन क्षमता समाप्त हो चुकी होगी। भारत में सरकारी विपणन संस्थाओं के जरिये हजारों किसानों को इस प्रकार के नपुंसक बीजों की आपूर्ति की गई है जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें स्वयं द्वारा तैयार किये बीजों से फसल हासिल नहीं हुई और कई किसानों ने आत्महत्या कर ली क्योंकि वे नये बीज नहीं खरीद सकते थे। जननिक यांत्रिकी के जरिये तैयार किये गये सोयाबीन की प्रतिरोधक क्षमता को इतना शक्तिशाली बना दिया गया है कि वह घातक एवं जहरीले कीटनाशकों को सहन कर सकता है। यह कीटनाशक खरपतवार, कीट और रोगाणुओं के अतिरिक्त सब कुछ समाप्त कर सकते हैं।

प्रकृति ने पृथ्वी पर पाये जाने वाले जीवों एवं जीवन को एक दूसरे से सम्बद्ध बनाया है, ये जानवर, पर्यावरण एवं मानव एक दूसरे से एक कड़ी से जुड़े हुये हैं, यह एक अद्भुत संतुलन और रचना का उदाहरण है जिसके बिना जीवन में निरन्तरता संभव नहीं है, पर लोगों के लालच और विकृत मानसिकता के कारण प्रकृति की इस रचना का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है।

इसके अतिरिक्त व्यावसायिक स्तर पर कुछ और चौंका देने वाले अनुभव सामने आये हैं। इस तकनीक से तैयार बीज पुनर्उत्पादन नहीं कर सकते हैं इसलिये किसान को फिर से बीज खरीदना पड़ेगा, वह भी केवल उसी कम्पनी का। वहीं दूसरी ओर अमेरिका की ऐसी कम्पनियों ने अपने बीजों एवं रसायनों को पेटेन्ट करा लिया है अर्थात् अब बीज भी बौद्धिक सम्पदा के दायरे में आ गये हैं और कोई दूसरी कम्पनी उस बीज का उत्पादन नहीं कर सकेगी। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू टी ओ) एवं गैट समझौता भी इस पेटेन्ट और तकनीक का समर्थन करता है। जिससे खतरे के काले बादल पूरी दुनिया पर छा गये हैं। यह एक सफेद झूठ है कि ज्यादा उत्पादन, गरीबी हटाने और भुखमरी कम करने के लिये इस तकनीक का उपयोग किया जा रहा है, यह एक शैतानी कारोबार है। ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियां विश्व भर की सत्ता, संसाधन और साधनों पर अपना नियंत्रण सीपित कर लेना चाहती हैं। एक भारतीय किसान के लिये बीज उसकी सम्पत्ति, उसकी विरासत और जीवन होता है। पर हो सकता है जैव प्रौद्योगिकी की प्रक्रिया से गुजरने के बाद यही बीज उसे ही भारी मुनाफे के साथ बेचा जाये। यह चोरी है, धोखा है, फिर भी यह हो रहा है और सरकार ऐसी संस्थाओं को पनपने के लिये प्रश्रय दे रही है।

अतः किसानों से यह निवेदन है कि वे अपनी आज की खेती से कल के लिये स्वयं के बीज तैयार करें, जननिक तकनीक से तैयार और ज्यादा फसल का प्रलोभन देने वाले बीजों के फेर में न पड़ें। यह हमारी प्रकृति, हमारे समाज और जमीन को खत्म कर देने की साजिश है, इसके खिलाफ संघर्ष करें।

5 | ðV dks vuøfr

dikl cht dh chVh fdLekā | s fdl kuka vkš [krh ds | ðV pje ij

पेटलावद के किसान जयंतीलाल सेप्टा ने तीन साल पहले स्थानीय बीज विक्रेता की सलाह पर कपास का विदेशी जीन परिवर्धित बीज बोना शुरू किया था कि इससे कपास की पैदावार दो गुनी हो जायेगी और फसल को नुकसान पहुंचाने वाली डेंडू छेदक इल्ली (बॉलवार्म) का प्रकोप भी कम होगा। पहले साल तो यह दावा उन्हें सच ही लगा क्योंकि तब खेत में सफेद सोना लहलहा गया था, दूसरे साल उन्हें उतना लाभ नहीं हुआ तो हानि भी नहीं हुई, परन्तु तीसरे साल सपने टूटते ही नजर आये क्योंकि डेंडू छेदक इल्ली ने अमेरिका से आयातित इस बीज के तत्वों से लड़ने की क्षमता विकसित कर ली। बहुराष्ट्रीय कम्पनी मोनसेंटो ने बीटी कपास में जैव तकनीक से ऐसे तत्व (जीन) प्रवेश करा दिये हैं जो जहरीले होते हैं और जब यह बीज फसल का रूप लेते हैं तो हर हिस्से में जहर का प्रसार हो जाता है। इस तरह के तत्व बीज में डालने का मकसद बॉलवार्म (डेंडू इल्ली) से फसल को बचाना रहा है ताकि किसानों को मनमाने दामों पर यह बीज बेंचा जा सके। इस परिस्थिति में व्यापक स्तर पर बीटी कपास के बीजों के फायदे के मिथ्या प्रचार में किसानों का भी उपयोग किया गया। झाबुआ के जामली गांव के लच्छीराम के एक एकड़ के खेत में 4 क्विंटल कपास हुआ परन्तु जब कम्पनी ने रंगीन विज्ञापन छपवाया, तब उसमें यह बताया गया कि लच्छीराम के यहां एक एकड़ में पन्द्रह क्विंटल की पैदावार हुई है। इसी तरह धार के दसई गांव के कन्हैयालाल पाटीदार के यहां सात क्विंटल के बजाये 23 क्विंटल का उत्पादन दिखाया गया। राजौद में तो एक पान के विक्रेता को ही किसान के रूप में पेश कर दिया गया।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ किस कदर अब गांव की खेती-बाड़ी की व्यवस्था को घ्वस्त कर रही हैं इसकी तस्वीर अब मालवा-निमाड़ के कोने-कोने में नजर आने लगी है। जहां एक ओर उदारीकरण की नीतियों के अन्तर्गत किसानों को राज, समाज और बाजार में किसी का भी संरक्षण नहीं मिल रहा है तो वहीं दूसरी ओर औद्योगिक प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की राह में नीति बनाने वाले पलक पांवड़े बिछाये बैठे हैं। तमाम विरोधों के बावजूद भारत सरकार की जैनेटिक इंजीनियरिंग अनुमति समिति ने आंध्र प्रदेश को छोड़कर देश के सभी राज्यों में बी.टी. कॉटन बीजों के उपयोग की अनुमति दे दी। आंध्र प्रदेश सरकार ने किसानों की आत्म हत्या के बाद इन बीजों के उपयोग का विरोध किया था। वहीं दूसरी ओर मध्यप्रदेश सरकार ने इसके उपयोग की अनुशंसा की। यह अपने आप में बहुत विरोधाभासी स्थिति है कि जिस बीज के उपयोग के कारण एक राज्य में किसान आत्म हत्या कर रहे हों उसी बीज से दूसरे राज्य में खुशहाली कैसे आयेगी।

रिसर्च फाउण्डेशन फॉर टेक्नोलॉजी, साइंस एण्ड इकोलॉजी के अध्ययन से पता चलता है कि महाराष्ट्र के यवतमाल जिले में पंधारकावदा तहसील के बोयथ गांव में रामकृष्णपति को पचास एकड़ क्षेत्र में बोये बीटी कपास पर बालवार्म नियंत्रण के लिए दो बार और फिर कीटो को नष्ट करने के लिए सात बार छिड़काव करना पड़ा। एक एकड़ में कीट नाशक के छिड़काव पर एक बार में सात सौ रूपये का खर्च आता है। संकट की इस तेज रफतार को रोकना होगा क्योंकि कपास तो एक अखाद्य फसल है और जिस तरह से मक्का जैसी खाद्यान्न फसल के लिए बीटी बीजों के उपयोग की तैयार चल रही है यदि वह क्रियान्वित हुई तो इससे जीवन के लिए संकट खड़ा हो जायेगा।

आज से ठीक तीन साल पहले सरकार ने विवादित तकनीक के जरिये बदले गये चरित्र वाले बीजों के उपयोग को अनुमति देकर किसानों के लिये एक नये संकट की शुरुआत कर दी थी। अब तक कृषि एक पारम्परिक व्यवस्था का हिस्सा रही है जिसमें किसान अपने ही उत्पादन में से सर्वश्रेष्ठ गुणवत्ता वाले दानों को संरक्षित कर उनका बीज के रूप में उपयोग करता

chVh dikl ; kfu D; k\

बीटी कपास जैनेटिक ढंग से तैयार की गई कपास है इसमें ऐसे जीन्स शामिल किए गए हैं जो मिट्टी में पाये जाने वाले बैक्टीरियम से लिए गए हैं। बीटी कपास में इस तरह के तत्व पाये जाते हैं जिनमें भारी मात्रा में नशीली चीजें पायी जाती हैं और जब इसकी फसल तैयार होने लगती है तो पौधे के हर भाग में वह नशीली चीज फैल जाती है। इसत तरह की नशीली चीज डालने का असल मकसद यह है कि बाल वार्म नामक कीटाणू से पौधे को बचाया जाय। ये कीटाणू कपास में बहुतायत में पाये जाते हैं। बाल वार्म इसके प्रति प्रतिरोधक क्षमता विकसित कर लेते हैं। उससे अति विकसित कीट बनते हैं और कीटनाशक का अधिक छिड़काव करना किसानों की लागत बढ़ाता है।

आर. एफ. एस. टी. आई. ने महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, आंध्रप्रदेश और कर्नाटक में जो अध्ययन किया उससे पता चला कि मानसेन्टो का कपास अमेरिकी बाल वार्म से पौधों का बचाव नहीं करता और फसल पर जेसिडस, ऐफिडस, सफेद मक्खी और कीट पतंगों जैसे गैर-लक्षित कीट के हमने भी 250 से 300 प्रतिशत बढ़ गये। इसके अलावा बीटी पौधे जड़ में सड़न की बीमारी के भी शिकार हुए।

& uo/kkU; dh i fLrdk

‘कृषि व किसानों का विकास या विनाश?’

रहा। उसे बीज खरीदने के लिये कभी बाजार का रूख नहीं करना पड़ा। परन्तु भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में इन कम्पनियों को खेती के बाजार पर कब्जा जमाने का अवसर मिलने लगा। वर्ष 2002 में भारत सरकार की जैनेटिक इंजीनियरिंग अनुमति समिति ने सुप्रीम कोर्ट में मामला लम्बित होने और पर्यावरण के तमाम विवादों के बावजूद जीन परिवर्धित बीजों को खेतों में उपयोग करने की अनुमति देकर संकट को वैधानिक रूप से संरक्षण प्रदान कर दिया। अमेरिकी कम्पनी मोनसेंटो ने भारतीय कम्पनी महिको के साथ माहिको-मोनसेंटो बायोटेक इंडिया लिमिटेड कम्पनी बनाई और तीन किस्म के कपास बीजों को बाजार में उतारा।

शुरुआती दौर में किसानों ने इन नये जैव तकनीक से बने बीजों को ज्यादा तवज्जो नहीं दी। तब आक्रामक और भ्रामक प्रचार के जरिये इस दावे को गांव-गांव तक पहुंचाया कि इन तीन किस्म के बीजों की फसल को डेंडू छेदक इल्ली (बोलवर्म) किसी भी तरह का नुकसान नहीं पहुंचा सकेगी और किसानों को कीटनाशकों पर व्यय नहीं करना पड़ेगा। अब तक किसानों के अपने बीजों से 7 से 8 एकड़ कपास का उत्पादन होता रहा है परन्तु बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अपने विज्ञापनों में दावा किया कि प्रयोगशाला में तैयार इन बीजों से उत्पादन 14 से 16 क्विंटल प्रति एकड़ हो जायेगा। इस प्रक्रिया में सबसे पहले तहसील और गांवों के स्तर पर कृषि सामग्री के विक्रेताओं के मानस को ज्यादा कमीशन के जरिये परिवर्तित किया गया। यही विक्रेता गांव के किसानों के सतत सम्पर्क में रहते हैं और छोटे किसानों को कर्ज देते रहे हैं। ऐसे में उनकी सलाह पर किसानों ने ध्यान देना शुरू किया और पहली बार इन बीटी कपास के बीजों का उपयोग किया। शुरुआती वर्ष में तो उन्हें फायदा हुआ परन्तु दूसरे वर्ष फायदेमंद मानसून होने के बावजूद जब मैक-12, मैक-162 और मैक-184 बीटी की बुआई की तो जल्दी ही उनकी उम्मीदें और सपने ध्वस्त हाने शुरू हो गये। यूं तो कम्पनी का दावा यह था कि डेंडू छेदक इल्ली (बॉलवर्म) इसको कोई नुकसान पहुंचा नहीं सकेगी परन्तु झाबुआ के रायपुरिया के किसान मांगीलाल पाटीदार उन हजारों किसानों में से एक हैं जिन्हें फसल बचाने के लिये चार से पांच बार कीटनाशक का छिड़काव करना पड़ा। इसके बावजूद भी उन्हें 2.17 क्विंटल कपास की पैदावार मिली जबकि गैर-बीटी कपास बीज बोने वालों का उत्पादन 2.57 क्विंटल प्रति एकड़ रहा। यहां अंतर केवल मात्रा का ही नहीं है बल्कि इस कपास की गुणवत्ता भी अच्छी नहीं रही जिसके कारण उन्हें बाजार में कम फसल के साथ-साथ 40 फीसदी कम दाम भी मिला।

बीज स्वराज अभियान के ताजा अध्ययन से पता चला कि छोटी जोत होने के कारण 95 फीसदी बीटी कपास उगाने वाले किसान कम्पनी के इस निर्देश का पालन नहीं करते हैं कि बीटी कपास के साथ-साथ खेत के किनारे के 20 फीसदी हिस्से में गैर बीटी कपास बोना जरूरी है और इन परिस्थितियों में पर-परागण (क्रॉस पालीनेशन) के कारण होने वाले जीन हस्तांतरण से जैविक प्रदूषण का खतरा बढ़ गया है। बाबूलाल पाटीदार को कपास में तो घाटा हुआ ही परन्तु संकट यहीं समाप्त नहीं हुआ और जब उन्होंने उसी खेत में गेहूं बोया तो उसके पौधे हरे न होकर पीले होते गये और दाना छोटा होने के कारण उसके कोई दाम नहीं रह गये। किसानों की दुखदायी कहानी कई हिस्सों में बंटी हुई है। हर कोई कहता है कि 450 ग्राम बीज के पैकेट इस बार बाजार में दो हजार रुपये का मिला क्योंकि दूसरी किस्म के बीज मौके पर दुकानों से हटा लिये गये और सरकार की नजर इस कालाबाजारी पर पड़ी ही नहीं।

यह तो किसान की कहानी थी उन्हीं की जुबानी। जब हम देश और प्रदेश के स्तर पर विश्लेषण करते हैं तो स्थिति की भयावहता और स्पष्ट हो जाती है। वर्ष 2002 बीटी कपास के बीज की परम्परा आने के ठीक दो साल पहले मध्यप्रदेश में 170 किलो की 4.16 लाख गांठों का उत्पादन हुआ था, तब एक हेक्टेयर में 442 किलो कपास का उत्पादन होता था परन्तु बीटी कपास का उपयोग शुरू होने के दूसरे साल बाद ही प्रदेश में यह उत्पादन घट कर 3.79 लाख गांठ और 350 किलो प्रति हेक्टेयर पर आ गया। इसके विपरीत भारत सरकार के पर्यावरण और जैव प्रौद्योगिकी विभाग ने बायोटेक कन्सोर्टियम इण्डिया लिमिटेड के साथ मिलकर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से खूब प्रचार कर यह बताया कि वर्ष 2004 में देश भर में बीटी कपास के 13.10 लाख पैकेट बेचे गये हैं जो कि वर्ष 2003 से छह गुना अधिक है, यानी किसानों की बर्बादी भी इतनी ही रफ्तार से बढ़ रही है। वर्ष 2003 में 1.25 लाख किसानों ने बीटी कपास बोया था जबकि 2004 में यह संख्या बढ़कर 6.18 लाख हो गई। मध्यप्रदेश (2.20 लाख पैकेट) गुजरात (3.30 लाख पैकेट) और महाराष्ट्र (5.10 लाख पैकेट) इस घातक तकनीक से बने बीज का उपयोग करने वाले राज्य हैं। बीज का उपयोग छह गुना बढ़ा है परन्तु कपास का उत्पादन कम हुआ है और किसानों की लागत बढ़ने से घाटा भी बढ़ा है। अब तो बाजार में बीटी कपास के दाम भी देशी कपास से 33 फीसदी कम मिल रहे हैं।

हम आंध्रप्रदेश के महबूब नगर और बारंगल जिलों के हालात से वाकिफ हो ही चुके हैं जहां हजारों किसान बीटी कपास को अपना जीवन भेंट कर आत्म हत्या कर चुके हैं। और इस पर सरकार ने बयान दिया है कि किसान घाटे के कारण नहीं बल्कि बीमा का लाभ लेने के लिये आत्महत्या कर रहे हैं। मध्यप्रदेश भी इसी अनुभव को दोहराने जा रहा है क्योंकि

अब जेनेटिक इंजीनियरिंग अनुमति समिति विनाशकारी अनुभवों के बावजूद नये सिरे से 10 बीटी बीजों की किस्मों को खेत में उपयोग करने के लिए बाजार में बेचने की अनुमति देने जा रही है। यह तय है कि सरकार किसान और पर्यावरण विरोधी नीति बनाकर उसके दुष्प्रभावों को स्वीकार करना ही नहीं चाहती है। या तो वह बाजार के भारी दबाव में है या फिर किसान हित से ज्यादा निजी हित का उन पर प्रभाव है। और निश्चित रूप से तमाम नकारात्मक अनुभवों के बावजूद कृषि विश्वविद्यालय के गोपनीय अध्ययन के आधार पर वह जल्दी ही इन घातक बीजों के पुनः भविष्य में उपयोग के लिये अनुमति प्रदान करने जा रही है। जनप्रतिनिधियों को यह महसूस करना होगा कि भारत के खेत और किसान विनाशकारी तकनीकों की प्रयोगशाला बन गये हैं, अन्यथा उनकी भूमिका बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ में बंधी कठपुतली से कुछ ज्यादा नहीं होगी।

chVh di kl dh Hkkjr ea ; k=k

भारत में विदेशी तकनीक से बना बीज आयात करने का आवेदन	— अक्टूबर 1994
आयात की अनुमति भारत सरकार ने दी	— मार्च 1995
आयात शुरू हुआ	— वर्ष 1996
प्रयोगशाला और एक सीमित क्षेत्र में प्रयोग शुरू	— वर्ष 1996-97
5 सीमित क्षेत्रों में प्रयोग	— वर्ष 1997-98
बीज में मौजूद विषैले तत्वों का आई.टी.आर.सी. लखनऊ द्वारा अध्ययन	— वर्ष 1997-98
भारत सरकार की जैनेटिक इंजीनियरिंग अनुमति समिति ने तीन बीटी हाईब्रिड किस्मों के बीज की व्यापार की तीन वर्ष की अवधि के लिए अनुमति दी। यह अनुमति आंध्रप्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र और तमिलनाडु राज्यों के लिए दी गई।	— वर्ष 2002
तीन उत्तरी राज्यों पंजाब, हरियाणा और राजस्थान में महिको, रासी और अंकुर बीज कम्पनी के तीन किस्मों के बीजों के व्यापारी उपयोग की अनुमति भारत सरकार ने दी	
ये तीनों कम्पनियां मानसैंटो से सम्बद्ध हैं	— 4 मार्च, 2005
नकारात्मक अनुभवों के बावजूद बीटी किस्म के बीजों के व्यापार की पुनः अनुमति दी गई	— 3 मई, 2005
आंध्रप्रदेश सरकार के विरोध के बाद बीटी किस्मों के बीजों के उपयोग पर केवल उसी राज्य में प्रतिबन्ध लगा	— 3 मई, 2005

chVh I s I EcflU/kr v/ ; ; uka ds eq ; fu"d"kl

वर्ष 2002 में बीटी किस्म के कपास बीजों की अनुमति देने के साथ ही अनुमति समिति ने मध्यप्रदेश के खण्डवा जिले के किसानों का अध्ययन कर भविष्य में बीज की असफलता के संकेत दे दिये थे।

आंध्रप्रदेश के वारंगल जिले में इसके उपयोग के कारण खेती की लागत बढ़ी और किसान भारी कर्ज में डूब गये। डेक्कन डेवलपमेंट सोसायटी ने इस बर्बादी को सिद्ध किया।

आल इण्डिया कोआर्डिनेटेड कॉटन इम्प्रूवमेंट प्रोजेक्ट ने वर्ष 2004-2005 की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में कहा कि बीटी बीज बीमारियों से मुक्त नहीं हैं और यह दावा गलत है कि उस पर कीटों का प्रभाव नहीं पड़ता है।

बीज स्वराज अभियान से जुड़ी संस्थाओं सम्पर्क और वास्स ने मध्यप्रदेश में कपास उत्पादक किसानों के साथ सहभागी अध्ययन कर सिद्ध किया कि इससे न केवल किसानों को घाटा हो रहा है बल्कि भारतीय कृषि व्यवस्था को आघात पहुंचाने के उद्देश्य से बहुराष्ट्रीय कम्पनियां प्रचार के उग्र तरीके अपनाकर

किसानों को आतंकित भी कर रही हैं।

जीन कैम्पेन ने भी अपने अध्ययन से सिद्ध किया कि बीटी किस्में कृषि व्यवस्था और पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव डाल रही हैं।

हक़ीर लज्जत क फ़रुह : [क

तमाम अध्ययनों, जनसंगठनों के विरोध और किसानों की आत्महत्या के मामलों को नजरअंदाज करते हुए 3 मई 2005 को जैनेटिक इंजीनियरिंग अनुमति समिति ने आंध्रप्रदेश को छोड़कर अन्य 5 राज्यों में बीटी कपास के व्यापार की फिर अनुमति दे दी।

आंध्रप्रदेश सरकार ने भारी दबाव में इन बीजों के विरोध में अपनी रिपोर्ट समिति को भेजी। अन्य चार राज्यों, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, तमिलनाडु और महाराष्ट्र ने मिश्रित रिपोर्ट भेजी यानि विरोध नहीं किया। गुजरात ने अपनी रिपोर्ट समिति को भेजी ही नहीं।

चार राज्यों की मिश्रित रिपोर्ट के कारण भी समिति ने वहां मैक-12, मैक-162, मैक-184 बीटी किस्मों के बीजों के व्यापार और उपयोग की अनुमति दे दी।

यह एक विरोधाभासी स्थिति है कि सभी राज्यों में किसानों को नुकसान पहुंचाने वाले बीजों के उपयोग पर केवल आंध्रप्रदेश में प्रतिबंध क्यों है और अन्य राज्यों में इसके उपयोग की अनुमति क्यों?

दल रस्त ल स<क फूकनर चतक दक तky

0"क 2002&04 & इस वर्ष 41326 किसानों ने इनका उपयोग किया जबकि बीटी बीजों के 72000 पैकेट का विक्रय हुआ और 40 हजार हैक्टेयर में बुआई हुई।

0"क 2003&04 & 125000 किसानों ने बीटी बीज बोये और बीजों की बिक्री बढ़कर 2,30,000 पैकेट तक पहुंच गई। इस वर्ष एक लाख हैक्टेयर क्षेत्र में इनका उपयोग हुआ।

0"क 2004&05 & इसका विस्तार व्यापक क्षेत्र में हुआ और बीटी बीजों की बिक्री छह गुना बढ़ी। इस वर्ष 13.10 लाख बीज पैकेट बेचे गये। आश्चर्यजनक रूप से 6,18,000 किसानों ने इसे आजमाया।

0"क 2004 & आंध्रप्रदेश में 1.8 लाख, मध्यप्रदेश में 2.2 लाख, गुजरात में 3.3 लाख, महाराष्ट्र में 5.1 लाख, कर्नाटक में 45 हजार और तमिलनाडु में 25 हजार पैकेट की बिक्री हुई। उल्लेखनीय है कि इस बीज के 450 ग्राम के एक पैकेट की कीमत 1600 रुपये होती है।

6 vc D; ka gS chVh c&ku , d [krjk\

हम सबने सुना कि अब बाजार में बीटी बैंगन के बीज आ रहे हैं। बहुत से शहरी लोग नहीं समझ पायेंगे कि ये बीटी बीज क्या होते हैं? तो इसका अर्थ यह है कि बैंगन के जहर बुझे बीज। बीटी बीज बनाने वाली कम्पनी का कहना है कि बैंगन या आलू की फसल को कीटों से बचाने के लिये ऊपर से कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है इसलिये समस्याओं से बचने के लिये कम्पनी ने बीज में ही कीटनाशक (यानी जहर) प्रवेश करा दिये हैं यह तकनीक कुछ और नहीं, केवल बीजों, कीटनाशकों और नई समस्याओं के समाधान का बाजार खोजने की रणनीति है। और भूमण्डलीकरण में आम लोगों के लिये इसी बाजार से निपटना सबसे बड़ी चुनौती है।

भूमण्डलीकरण वास्तव में एक स्पष्ट रूप से नजर आने वाली वस्तु नहीं है। यह तो एक प्रक्रिया है और इसमें खास बात यह है कि जब तक हम इस प्रक्रिया के वर्तमान पहलुओं और सिद्धान्तों को समझ पाते हैं तब तक इसका रूप बदल चुका होता है। फिर भी जब हम कृषि के भूमण्डलीकरण की बात करते हैं तब यह साफ तौर पर दिखता है कि बाजार में बैटी हुई कम्पनियों का मकसद केवल लाभ कमाना है। इस आर्थिक लाभ को कमाने के लिये वे यह तर्क अपने तथा कथित अध्ययनों-विश्लेषणों से स्थापित करते हैं कि किसान जितने संसाधनों का उपयोग करते हैं, उसके अनुरूप फायदा नहीं कमा पाते हैं। सबसे ज्यादा हानि फसलों में अलग-अलग बीमारियों और कीटों के हमलों से होती है। और जब बीमारियाँ होती हैं तो किसानों को तरह-तरह के कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है, जिसमें खेती की लागत बढ़ती है। यह तर्क वास्तव में पूरी व्यवस्था की कमजोर नब्ज है जिस पर कम्पनियों ने अपना हाथ रख दिया। अब कम्पनियों ने जैव परिवर्द्धित (जैनेटिकली मोडिफाईड बीज) बीजों का विकल्प खड़ा कर दिया है। जैव तकनीक के जरिये कम्पनियों ने बीजों के भीतर ही कीटनाशकों का प्रवेश करा दिया है। उनका दावा है कि यदि किसान उनकी कम्पनी के बीजों का उपयोग करेंगे तो उन्हें कीटनाशकों का उपयोग नहीं करना पड़ेगा। इससे कृषि की लागत कम होगी और उत्पादन भी बढ़ेगा। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भूमण्डलीकरण की राजनीति के जरिये विकासशील देशों (खासतौर पर कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था पर आधारित भारत जैसे देशों) पर अपना शिकंजा कसना, क्योंकि यहाँ की जनतांत्रिक व्यवस्था की कमजोरियाँ उन्हें रास आई। भ्रष्टाचार और तकनीकी जाल में उलझे सरकारी संस्थान भी अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निर्देशों पर नीतियाँ बनाते हैं।

रणनीति के तौर पर हमें इस राजनीति का विश्लेषण करना जरूरी है। अमेरिका हमेशा से आर्थिक उपनिवेशवाद का ध्वज वाहक रहा है। वह दुनिया में कहीं भी वास्तविक जनतंत्र का हिमायती नहीं रहा है। यही कारण है कि जैव तकनीक को सबसे पहले और सबसे ज्यादा अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ही बढ़ावा दिया और अमेरिकी सरकार ने अपनी नीतियाँ भी उन्हें मदद करने वाली ही बताईं। इतना ही नहीं वह वैश्विक मंचों पर भी जैव तकनीक की वृद्धि का खुल कर पक्ष लिया। सन् 2002 में विश्व खाद्य सम्मेलन में गरीबी-भुखमरी पर चर्चा हुई। और विकसित देशों ने कहा कि भूमण्डलीकरण से ही भुखमरी मिट सकती है और बायोटेक्नालॉजी के जरिये ही संकट को हल किया जा सकता है।

तभी अमेरिका के कृषि सचिव ने यह विवाद भी खड़ा कर दिया कि सम्मेलन के घोषणा पत्र में सभी देश जीएम फसलों को बढ़ावा देने पर सहमति जाहिर करें और अपनी नीतियाँ इसी तरह बनायें। अमेरिका के दबाव में जैव परिवर्द्धित तकनीक को भुखमरी मिटाने के लिये जरूरी मानना पड़ा। यह स्वीकार न करने की स्थिति में अमेरिका ने धमकी तक दे दी थी कि वह विश्व खाद्य सम्मेलन के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि कृषि पर जीवन निर्भर करता है कृषि पर बाजार कभी हावी नहीं रहा। ऐसे में इस पर नियंत्रण हासिल करने के लिये जैव तकनीक का सहारा लिया गया। जैव तकनीक अब बहुत तेजी से कृषि का बाजारीकरण तो कर ही रही है परन्तु चिंताजनक तथ्य यह है कि इससे मानवता पर भी संकट छा रहा है। जिस कीट से फसल को बचाने के लिये बैक्टिरिया बीजों में प्रवेश कराया जा रहा है क्या वह

उन लोगों पर असर नहीं करेगा जो जैव परिवर्धित बीजों से उपजाये गये फल या सब्जी खायेंगे। जैव परिवर्धित बीजों (बीटी बीज) के कितने खतरनाक प्रभाव पड़ते हैं इसके दो उदाहरण हमारे सामने आ चुके हैं। बीटी कपास की खेती करने वाले हजारों किसान घाटे में डूब कर कर्ज के जाल में फंसे और उन्हें आत्महत्या करना पड़ी। इसी फसल के पेड़ और कपास के फल खाकर 1600 भेड़ें मर गईं। शुरुआत तो बीटी कपास से हुई थी परन्तु अब भारत सरकार की जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रवुल कमेटी (जी ई ए सी) ने तो खाद्य फसलों के लिये भी जहर बुझे बीजों के उपयोग को अनुमति देना शुरू कर दिया है।

बहुराष्ट्रीय बीज निर्माता कम्पनी मानसैंटो ने एक फर्जी अध्ययन कर बताया कि कीटों और बीमारियों के कारण हर वर्ष 22.1 करोड़ डालर का बैंगन उत्पादन बेकार हो जाता है। जबकि वास्तविकता यह है कि इतनी राशि का तो कुल बैंगन उत्पादन ही नहीं होता है। बैंगन के बीजों में मानसैंटो कम्पनी ने वही बैक्टिरिया— *clk; 1, I h* जीन डाला है जो कपास के बीज में डाला गया था। वही कपास का बीज जितनी फसल को खाकर 1600 भेड़ें मर गई थीं।

खाद्य बीजों, खास तौर पर बैंगन के बीजों में जिस *clk; 1, I h* जीन को प्रवेश कराया गया है, उसके प्रभावों का प्रयोग चूहों पर किया गया। उससे पता चला कि यह प्रतिरोधक क्षमता को कमजोर करता है और आंतों में चिपक जाता है। पूर्व के *clk; 1, I h* जीन के परीक्षण यह सिद्ध करते हैं कि उससे जीवों में जबरदस्त एलर्जी होती है और यदि यह जीन लगातार मानव शरीर में प्रवेश करेगा तो वह कभी भी खतरनाक बीमारियों से नहीं उबर पायेगा। जीएम खाद्य पदार्थों पर हुआ कोई भी अध्ययन यह सिद्ध नहीं करता है कि ऐसे बीज या उत्पादन जानलेवा खतरनाक रसायनों और संकटों से मुक्त हैं। यही कारण है कि किसी भी विकसित देश ने अपने यहाँ जीएम खाद्यान्न को प्रोत्साहित नहीं किया है।

बीटी बैंगन के बीजों में एनपीटी-2 जीन का भी प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह जीन *कैनामायसिन* प्रतिरोध के रूप में जाना जाता है। इसके कारण मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और कोशिकायें खत्म हो जाती है। यदि व्यक्ति बीटी बैंगन का उपयोग करता है तो उस पर एंटीबायोटिक दवाओं का असर भी खत्म हो पायेगा।

एक तरफ तो सरकार हेपेटाईटिस-बी जैसी बीमारी से निपटने के लिये कार्यक्रम बना रही है तो वहीं दूसरी ओर इसी तरह की बीमारी फैलाने वाले *कालीपलोवर मोसियेक वायरस* की बीटी बैंगन के जरिये मानव शरीर में प्रवेश कराने की अनुमति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दे रही है। सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कुदृष्टि को भांप नहीं पा रही है। ये कम्पनियाँ नई तकनीक से बने बीजों के नकारात्मक प्रभावों को छिपाती रही है। जो कम्पनी बीटी बैंगन के बीजों का उत्पादन करवा रही है उसने पहले बीटी मक्का के घातक परिणामों को छिपाया है। बीटी मक्का के प्रयोगों से पता चला था इससे किडनी में असमान्यता आ जाती है और खून में श्वेत रक्त कोशिकाओं का स्तर बढ़ जाता है। कम्पनियाँ कहती हैं कि उस बीज से बैंगन के बीज का सम्बंध नहीं है पर सच यह नहीं है। कई वरिष्ठ वैज्ञानिक मानते हैं कि जैव परिवर्धित बीजों का व्यापारिक उपयोग करने से पहले उसके प्रभावों का परीक्षण कई पीढ़ियों पर करना होगा ताकि इसके प्रभावों को जॉचा-परखा जा सके परन्तु लाभ कमाने को तत्पर बाजारू कम्पनियाँ इंसानी समाज के आस्तित्व को ही दांव पर लगा रही है।

यह एक षडयंत्र है भारत की जैव विविधता को खत्म कर देने का। हमारे देश में चार हजार सालों से बैंगन का उत्पादन हो रहा है और इसकी मात्रा की किसी भी तरह से कम नहीं है। बीटी कम्पनियाँ जिस तरह से बीजों के चरित्र में रासायनिक गुणधर्मों में परिवर्तन कर रही हैं उससे भारत में खाद्य पदार्थों और सब्जियों के प्राकृतिक बीज खत्म हो जायेंगे। और तब हर किसान को कम्पनी के बीज पर ही निर्भर रहना होगा। यह तथ्य भी जान लेना जरूरी है कि बीटी बैंगन में उपयोग किये गया *clk; 1, I h* जीन तितलियों को खत्म कर देता है। क्या हम भारत की रंगबिरंगी तितलियों को खत्म कर देना चाहते हैं?

संकट केवल बैंगन तक सीमित नहीं है। आलू का उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है यह तर्क बाजार ने फैला दिया है। और उत्पादन में वृद्धि करने के लिये आलू के बीज में मकड़ी के जीन पवेश कराये गये हैं। तर्क यह दिया गया की इस आलू में प्रोटीन ज्यादा है और यह प्रोटीन गरीबों के लिये ज्यादा फायदेमंद हैं परन्तु इस दावे की तब हवा निकल गई जब हिमाचल प्रदेश के आलू में भी बहुत प्रोटीन की बात सिद्ध हो गई।

चावल अब केवल एम खाद्यान्न फसल नहीं है बल्कि दूसरी हरित क्रॉन्टि में बाजार में इसकी बहुत अहम भूमिका है इसीलिये चावल में बिच्छू के जीन शामिल किये गये हैं। इसी तरह अरहर, सरसों, टमाटर, मूंगफली, मक्का जैसी 10 खाद्यान्न फसलों के लिये अनुमति की माँग की गई है। खाद्यान्न फसलों की तो शुरुआत है परन्तु बीटी खाद्य को स्थापित करने के लिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने जो रणनीति अपनाई उसे हमें समझना होगा। ये कम्पनियों पेटेंट और एकाधिकार के नाम पर बाजार से देशी और स्थानीय बीजों पर रोक लगवा देती है। तब केवल उन्हीं का बीज बाजार में होता है और किसान की मजबूरी होती है कि वह हर कीमत पर इन्हें खरीदे। फिर चूँकि यह बीज जैव परिवधित बीज हैं इसलिये इन पर केवल एक विशेष प्रकार के कीटनाशकों का ही असर होता है। और यह विशेष कीटनाशक भी वही खास कम्पनी बनाती है। इसे खरीदना भी किसान की मजबूरी हो जाती है। यदि वैश्वीकरण तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अब कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता जैसे शब्दों के अर्थ कभी नहीं खोजे जा सकेगे। अब किसान और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच नौकर और मालिक के रिश्ते होंगे जहाँ तक सरकार की भूमिका का सवाल है तो यह कड़वा सच है कि सरकार केवल दलाल की भूमिका निभायेगी।

7 Hkkjr ea vUrj k'Vh; foRrh; I LFkkuka dh I Ukk

1991 में भारत के रिजर्व बैंक में विदेशी मुद्रा भण्डार इस हद तक कम हो जाने दिया गया कि सरकार दो सप्ताह के आयात के बिल चुकाने में भी सक्षम नहीं थी। यही मौका होता है जब अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान संकट मोचक का छद्म वेश धारण करके सामने आते हैं। देश आर्थिक संकट से तो जूझ रहा था पर विश्व बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष को पता था कि भारत कंगाल नहीं हुआ है। और वह इस स्थिति का फायदा उठा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सुझाव पर भारतीय रिजर्व बैंक ने अपने भण्डार में रखे हुये 48 टन सोना गिरवी रखकर विदेशी मुद्रा की जुगाड़ की। आईएमएफ बड़ी तत्परता से भूमिका निभा रहा था। उदारवाद के मोहपाश में बंधे तत्कालीन वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह भी अब सरकार और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभा रहे थे। यही वह समय था जब सरकार हर सलाह के लिये विश्वबैंक – आईएमएफ की ओर ताक रही थी। हर नीति और भविष्य के विकास की रूपरेखा अब वाशिंगटन में तैयार होने लगी थी। वाशिंगटन केवल अमेरिका की राजधानी नहीं है बल्कि यह विश्वबैंक का मुख्यालय भी है।

इन संस्थानों ने भारत सरकार की संरचनात्मक समायोजन (स्ट्रक्चरल एडजेस्टमेंट) करने की नीति अपनाने के लिये मजबूर कर दिया। इसका मतलब यह था कि सरकार अब देश के हर ढांचे में आमूलचूल बदलाव करने के लिये तैयार हो गई। इसका सीधा सा मतलब यह भी है कि सरकार अपने खर्चों को तो कम करेगी ही, साथ ही खर्च कर करे वाली तकनीकें भी अपनायेगी। कर्मचारियों को नौकरी से निकालना, जनकल्याण पर खर्च कम करना, केवल फायदे वाले क्षेत्रों में निवेश करना और व्यवस्था-संरचनाओं का निजीकरण करना इसी नीति के हिस्से हैं। चूंकि सरकार विश्व बैंक के प्रभाव में थी इसलिए बड़ी-बड़ी परियोजनायें शुरू करने की नीति भी भारत ने अपना ली। यह जानना जरूरी है कि विश्व बैंक एक समूह है। इस समूह में पांच संस्थायें शामिल हैं। जैसे-

1/1½ bVjus'kuy c'd Qkj jhdLVØ'ku , .M MoyieW/vkbZ ch vkj MhW यह इस समूह की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी संस्था है। इसमें सबसे ज्यादा लोग काम करते हैं और धन भी इसमें सबसे ज्यादा है। विश्वबैंक इसी के पीछे आधुनिक विराम और गरीबी मिटाने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है। गरीबी मिटाने के नाम पर यह तीन राम करता है। पहला-सर्वे शोध और अध्ययन करके बड़ी परियोजनाओं की जरूरत को सिीपित करना, दूसरा इन परियोजनाओं को संचालित करने के लिये देशों को कर्ज उपलब्ध करवाना और तीसरा-संरचनात्मक समायोजन एवं व्यापक आर्थिक नीतियों में ऐसा बदलाव करवाना जिससे अदारवाद और भूमण्डलीकरण को बढ़ावा मिले।

2/2½ bUVjus'kuy moyieW , d kfl , 'ku W/vkbZMh-, -W/विराम को नकली मानवीय चेहरा पहनाने के उद्देश्य से आई.डी.ए. शून्य ब्याज दर या बहुत कम ब्याज दर पर कज उपलब्ध करवाता है।

3/3½ bUVjus'kuy Qk; u d dki kj's ku W/vkbZ, Q-I h-1/2 यह संस्था निजी क्षेत्र को कर्ज उपलब्ध करवाती है। हांलांकि इस प्रक्रिया में सरकार ही अपनी गारण्टी के आधार पर निजी क्षेत्र को कर्ज लेने का अवसर देती है।

4/4½ eYVhus'kuy bldLVeW xkj.Vh , t d h W, e vkbZ th , W यह संस्था निवेश की गारण्टी उपलब्ध करवाती है, एक तरह से यह बीमा जैसी सुरक्षा की बात है। व्यावहारिक रूप से यह राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध होता है और फिर भी सरकारें इसका समर्थन करने के लिये बाध्य है।

5/5½ bVjus'kuy I Wj QkV n I W/yeW vknD bldLVeW fMLV; W W/vkbZ I h , I vkbZ MhW विश्व बैंक समूह की सत्ता की ताकत का अंदाज इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि इस समूह पर भारत के कोई कानून और संविधान लागू नहीं होता है। यदि कोई भी विवाद होता है तो आई सी एस आई डी के समक्ष मामले जाते हैं।

विश्व बैंक समूह पर इसके सदस्य देशों का नियंत्रण होता है। खास बात यह है कि विश्व बैंक में एक देश का एक वोट नहीं होता है बल्कि जो देश जितना धन बैंक में डालता है उसे उतना ही महत्व मिलता है। स्वाभाविक है कि अमीर देशों का निर्णय ही यहां लागू होता है। आंकड़ों के स्तर पर देखा जाये तो यह वैश्विक राजनीति और स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है। इसमें अकेले अमेरिका ने 16.39 प्रतिशत धन निवेश किया हुआ है और भारत जैसे बड़े देश का निवेश केवल 2.78 प्रतिशत है। बांग्लादेश, भूटान और श्रीलंका को मिलाकर भारत को एक कार्यकारी निर्देशक मिलता है। इसका मतलब है कि भारत में कौन सी परियोजनायें चलेंगी, किस काम के लिये कर्जा दिया जायेगा यह अब भी भारत जैसे देश नहीं तय कर सकते हैं।

भारत के लिये विश्व बैंक की सहायता रणनीति (2005–2008) में कहा गया है कि विश्व बैंक समूह विकास की नीतियों का निर्माण करने के लिये एक बौद्धिक धरातल तैयार करेगा.....बैंक राजनैतिक रूप से उपयुक्त ज्ञान उत्पादक और ज्ञानदाता की भूमिका का विस्तार करेगा।

8 ः; oLFkk dks i Hkkfor djus dh j .kuhfr

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों ने बहुत ही रणनीतिगत तरीके से अपने प्रभाव को स्थापित किया है। वे जिस प्रक्रिया का पालन करते हैं वह दिल और दिमाग दोनों पर नियंत्रण करती है और यदि आप व्यवस्था के विचारतंत्र पर कब्जा कर लेते हैं तो व्यवस्था स्वयमेव ही नियंत्रण में आ जाती है।

Kku dk mRi knu – यदि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की व्यवस्था को समझने के लिये जब हम पहला चरण आगे बढ़ाते हैं तो हमारे सामने इन संस्थानों के अध्ययनों, विश्लेषणों और दृष्टिपत्रों का ढेर लग जाता है। विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने पिछले 16 वर्षों में डेढ़ हजार दस्तावेजों का निर्माण किया है। यही कारण है कि उनका विरोध बहुत कठिन हो जाता है क्योंकि उदारीकरण का विरोध करने वाले संगठन इस ज्ञान के उत्पादन की प्रक्रिया में पिछड़े हुये हैं। महत्वपूर्ण यह नहीं है कि विश्वबैंक के अध्ययन सही हैं या गलत, महत्वपूर्ण यह है कि वे बहस को शुरू करते हैं। कुछ अनुभव बताते हैं कि वे हर अध्ययन में उन्हीं निष्कर्षों पर पहुंचते हैं जहां पर वे पहुंचना चाहते हैं।

भारत का योजना आयोग तो जैसे विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक की आरामगाह है। योजना आयोग वही करता है जो ये संस्थान चाहते हैं। आयोग ने भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों के विकास के लिये दृष्टि पत्र – 2020 का निर्माण करवाया। इसका सुझाव भी इन्हीं संस्थानों का था। इस दस्तावेज के अध्याय भी इन्हीं संस्थानों ने लिखवाये वह भी दो विदेशी (जापानी और आस्ट्रेलियाई) सलाहकारों से। खास बात यह है कि जापानी सलाहकार ने कभी पहाड़ देखे ही नहीं थे पर वे पहाड़ी भारत के संदर्भ में *दृष्टि पत्र – 2020* लिख रहे थे। इस दस्तावेज में लिखा गया कि ब्रम्हपुत्र नदी की बाढ़ से बहुत नुकसान होता है इसलिये इस पर 143 बांध बनाये जाना चाहिये। इन बांधों से 98000 मेगावाट बिजली पैदा हो सकती है। हालांकि जरूरत केवल 5000 मेगावाट की है इसलिये शेष ऊर्जा पूर्वी एशिया को भेजी जा सकती है। वास्तव में एशियाई विकास बैंक दक्षिण एशिया को पूर्वी एशिया से जोड़ने की योजना पहले से ही बना चुका था पर उसकी तार्किकता सिद्ध करने के लिये अध्ययन कराया गया। अब भारत सरकार की नई नीतियों का आधार ही वह दृष्टिपत्र है।

ekudka dk fu/kkjk & चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान कर्ज एवं अनुदान देते हैं इसलिये स्वाभाविक है कि शर्तें भी उन्हीं की होती हैं। विकास के कार्यों (खास तौर पर निर्माण कार्य, सलाह सेवायें एवं प्रशिक्षण) में काम करने वाले व्यक्तियों, व्यावसायिक फर्मों या तकनीकी फर्मों का स्तर क्या होना चाहिये, यह भी विश्व बैंक, एशियाई विकास बैंक अपनी शर्तों में तय कर देते हैं। इसके दो मकसद होते हैं – पहला मकसद तो यह होता है कि काम की रूपरेखा बनने से लेकर क्रियान्वयन तक का काम उनकी मंशा के अनुरूप होता है और दूसरा मकसद होता है कर्ज में से 30-40 फीसदी धन विकसित देश वापस ले जाना।

इसी तरह जो सामग्री क्रय करने या निर्माण कार्य के लिये विश्व स्तरीय निविदायें निकलती हैं उसकी शर्तें केवल अमेरिका, यूरोप या जापान की कम्पनियां ही पूरा कर पाती हैं। विकासशील देशों की स्थानीय कम्पनियों को काम ही नहीं मिल पाता है।

vPNk 'kkl u ræ] 0; oLFkk , oaykdraæ % अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान मानते हैं कि राज्य में क्रांति या विद्रोह के अवसर पैदा न हो पायें इसके लिये समुदाय को अच्छे शासन तंत्र और लोकतंत्र के भ्रम में रखना चाहिये। वे प्राथमिक रूप से तय करते हैं कि शासन में लोगों की भूमिका नहीं होना चाहिये और यदि उनकी भूमिका है तो उस शासन तंत्र का इस्तेमाल अपनी रणनीति को लागू करने में नहीं करना चाहिये। भारत में केरल में स्थानीय स्वशासन व्यवस्था की पुर्नसंरचना के लिये कर्ज दिया गया। और विश्लेषण इस तरह किया गया कि विकास के लिये लोकतांत्रिक और अच्छी शासन व्यवस्था को स्थापित किया जाना चाहिये। पंचायतों का रूप इसी तरह का हो। इसके लिये जरूरी है कि वे संवैधानिक – राजनैतिक ढांचे के रूप में सामने आयें। लेकिन उन्हें वित्तीय अधिकार नहीं दिये जाने चाहिये क्योंकि वे राजनैतिक ढांचे का हिस्सा हैं। वे न तो व्यवस्था बनाये रख पायेंगी न ही उनकी जबाबदेहिता तय हो पायेगी इसलिये वित्तीय व्यवहार के लिये समानांतर ढांचा खड़ा करना चाहिये।

आप पायेंगे कि आज पानी का जो निजीकरण किया जा रहा है उसमें विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक में स्थानीय शासन व्यवस्था या निकायों के बजाये उपभोक्ता समितियां बना कर उनसे शुल्क वसूल करने की बात कही है। ये अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान जानते हैं कि पंचायतों से शुल्क वसूल करने के लिये कठिन कदम नहीं उठाये जा सकते हैं और यदि उठाये गये तो विरोध होगा और संविधान उनका संरक्षण करेगा। यह सोच संयुक्त वन प्रबंधन समितियों के संबंध में भी लागू हुई है।

dkuu vkj | fo/kku | s Åij : ये अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान कानून से ऊपर हैं इसलिये नित नये प्रयोगों में इनकी कहीं कोई जबाबदारी नहीं है। यहां तक कि इनकी भूमिकाओं और देश के भीतर चल रहे कामों पर संसद तक में बहस नहीं हो पाती है।

orëku Lo: i : भूमण्डलीकरण के आज के दौर में भारत ने भी पहचान लिया है कि भारत को महत्व देना अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की मजबूरी है क्योंकि भारत सबसे तेज बढ़ती अर्थव्यवस्था है, सबसे बड़ा बाजार है। ऐसे में भारत ने इन संस्थानों के सामने कुछ शर्तें रखना शुरू किया।

- ज्यादा कर्ज दो – अब तक बैंक तय करते थे कि कितनी राशि दें, पर अब भारत ज्यादा मांग रहा है।
- जल्दी कर्ज दो – अब तक एक परियोजना स्वीकृत होकर राशि आने में छह साल का समय लगता था। अब प्रक्रिया तेज हुई।
- नीतियों को नरम करना – अब तक बैंक की वन नीति, आदिवासी नीति या पुर्नवास नीति कठिन होती थी और भारत को उसके अनुरूप काम करना पड़ता था पर अब उन्हें नरम बनाने की शर्त है।

सवाल यह है कि भारत की शर्तों को अगर विश्व बैंक और एशियाई विकास बैंक स्वीकार करने लगे हैं तो क्या हमें यह मान लेना चाहिये कि देश ताकतवर हो रहा है या यह मानना चाहिये कि जाल गहराता जा रहा है पर ऐसा नहीं है, वास्तव में यह एक बार फिर इन संस्थानों की रणनीति का हिस्सा है। अब की बार रणनीति यह है कि राज्य की व्यवस्था को आधार बनाकर ही भूमण्डलीकरण और उदारवाद की प्रक्रिया को आगे बढ़ाया जाये।

विश्व बैंक ने अपने विश्लेषण के अनुभवों से यह जाना है कि बाहर से थोपी हुई व्यवस्था के कारण समुदाय की ओर से विरोध होने की संभावना है। उसका अनुभव नर्मदा बचाओ आंदोलन – सरदार सरोवर बांध परियोजना के संबंध में स्पष्ट रहे हैं। प्राकृतिक संसाधन, आजीविका और रोजगार ऐसे मुद्दे जिन पर लोग आंदोलित होते हैं। इसी कारण विश्व बैंक को सरदार सरोवर परियोजना से पीछे भी हटना पड़ा था। इसके साथ ही आंध्रप्रदेश में पीपुल्स वार ग्रुप यानी नक्सलवाद के बढ़ते प्रभाव से इन वित्तीय संस्थानों का दखल भी प्रभावित हुआ था। ऐसे में एक तरफ तो अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की कुटिल राजनीति का पर्दाफाश हो रहा था तो वहीं दूसरी ओर विश्व बैंक – एशियाई विकास बैंक के प्रभाव को आधार बनाकर निवेश करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को भी चिंतित होना पड़ा। निवेश अब बाधित होने लगा तब विश्व बैंक ने भारत सरकार और आंध्रप्रदेश सरकार पर दबाव डाला कि वह नक्सलवादियों से चर्चा कर शांति स्थापित करें क्योंकि हिंसा और अशांति के बीच बहुराष्ट्रीय कम्पनियां आन्ध्रप्रदेश जैसे प्राकृतिक संसाधन सम्पन्न प्रदेश में भी निवेश नहीं करेंगी और सरकार को नक्सलवादियों के साथ इस दबाव में चर्चा शुरू करना पड़ी।

इसी तरह अगर अगले स्तर पर आये तो पता चलता है कि भारत के आधे से ज्यादा आदिवासी बहुल जिलों (87 जिलों) में माओवादी नक्सलवादी समूहों का विस्तार हो चुका है। हमें मानना होगा कि जैसे-जैसे शोषण का विस्तार होगा, वैसे-वैसे सशस्त्र संघर्ष का भी विस्तार होता है। और यह संघर्ष भी राजनीति (खासतौर पर मुख्यधारा की राजनीति) से मुक्त नहीं है। यही कारण है कि अब भारत की सरकार को आदिवासियों के वनों पर अधिकार को मान्यता देने वाला कानून लाने के लिये बाध्य होना पड़ रहा है।

आज की स्थिति से यह स्पष्ट होता है कि ये वैश्विक वित्तीय संस्थानें अब भारत जैसे देशों की शर्तों और स्थानीय परिस्थितियों को सुनियोजित ढंग से स्वीकार कर रही हैं और रणनीति यह है कि अब सरकार हर काम के लिये नीतियां कानून बनाये ताकि भविष्य के राजनैतिक आर्थिक परिणामों की जिम्मेदारी सरकार पर आये न कि

अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों पर। इसलिये अपना लक्ष्य हासिल करने के लिये ये संस्थान स्थानीय (देश की) व्यवस्था को ही जरिया बना रहे हैं। अब दृष्टि आधारित कार्यक्रमों पर नियंत्रण भी बना लिया है। भारत सरकार ने अगले पांच वर्षों के लिये “भारत निर्माण कार्यक्रम” शुरू किया है। इस कार्यक्रम के लिये विश्व बैंक तत्काल सरकार द्वारा मांगी गई पूरी राशि (5 बिलियन डालर) का ऋण देने को तैयार है। इस कार्यक्रम का दृष्टिपत्र भी विश्व बैंक तैयार कर रहा है और उसका ध्यान ऊर्जा, पानी, जमीन और जंगल के संसाधनों पर है। भारत निर्माण कार्यक्रम को संचालित करने के लिये सरकार की कम से कम 74 नीतियों में बदलाव करना पड़ेगा। और यह बदलाव होगा भूमण्डलीकरण की जड़ों को मजबूत करने के लिये।

अब विश्व बैंक सीधे-सीधे परियोजनाओं में निवेश नहीं करेगा, निवेश करेगा स्थानीय निकायों के जरिये। पर रणनीति अब यह है कि नीतियों और कानूनों का पुर्ननिर्माण कराया जाये। यदि एक बार नीतियां भूमण्डलीकरण की भावना के अनुरूप बन गईं तो फिर छोटे-मोटे संकट कोई मायने नहीं रखेंगे।

हकू. Myhdj .k dh i fØ; k es foRrh; | 1.Fkkuka dh Hkrfedk ds i Hkko %

- अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों ने अपने विश्लेषण में यही कहा कि खुले बाजार से गरीबी कम होगी परन्तु आज की स्थिति यह है कि भारत में गरीब परिवारों की संख्या उतनी ही है जिनती 30 साल पहले थी ।
- विश्व बैंक द्वारा संचालित गरीब हटाने वाले कार्यक्रम दुनिया के सबसे मंहगे और अनुत्पादक कार्यक्रम रहे हैं। इन कार्यक्रमों से एक डालर के बराबर मूल्य की गरीबी हटाने के लिये 166 डालर खर्च किये गये।
- विकास की जिस परिभाषा को कार्यक्रमों का आधार बनाया गया उससे प्राकृतिक पूंजी आधी हो गई है और पर्यावरण को जबरदस्त नुकसान हुआ है ।
- विकास के स्थाईत्व पर सवाल है। पानी के संसाधनों की पुर्नसंरचना पर आज जो खर्च कर रहे है वह लगातार बढ़ेगा। आज का खर्च पुर्नसंरचना पर होगा और पांच साल बाद पूरी आय कर्ज चुकाने में जायेगी। जिससे जल संसाधनों का रखरखाव नहीं हो पायेगा ।
- समुदाय की अपनी आजीविका और संसाधन संरक्षण से जुड़ी हुई व्यवस्थायें टूट रही हैं और संवैधानिक संस्थाओं के समानंतर नई संस्थायें खड़ी हो रही है जिससे गांव में टकराव का वातावरण बन रहा है ।
- अब चूंकि प्राथमिकतायें अन्तर्राष्ट्रीय बाजार तय कर रहा है इसलिये स्थानीय नियोजन का कौशल, क्षमता और महत्व खत्म हो रहा है। यह वास्तव में लोकतंत्र के खोखले होते जाने के संकेत हैं ।

9 Hkne.Myhaj.k vkj vUrjk'Vh; foRrh; I LFkkuka dh jkt uhfr

भूमण्डलीकरण वास्तव में एक प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में यह माना जाता है कि लोकतंत्र किसी भी व्यवस्था का सबसे जरूरी चरित्र है पर शर्त यह है कि वह लोकतंत्र इतना उदार होना चाहिये कि वह आर्थिक व्यवस्था (जिसे हम खुला बाजार कह कर परिभाषित कर सकते हैं) में हर तरह के परिवर्तन के लिये तैयार रहे। भूमण्डलीकरण की मान्यता यह है कि अर्थव्यवस्था में होने वाले हर परिवर्तन को लोकतंत्र की मान्यता मिले, फिर भले ही वह समाज के केवल अभिजात्य वर्ग के तात्कालिक हितों का ही संरक्षण क्यों न करता हो। दूसरी खास बात यह है कि भूमण्डलीकरण लोकतंत्र का पूरा उपयोग या फिर कहें कि पूरा दोहन करता है। इसमें "लोक" भूमण्डलीकरण के लिये लक्षित बाजार है जबकि "तंत्र" उस बाजार तक पहुंचने का माध्यम। भूमण्डलीकरण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था में बदलाव लाने की वकालत करता है। इसके लिये इस नई सोच के पैरोकारों ने जबरदस्त अध्ययन और विचार विमर्श करके ठोस रणनीतियां बनाई हैं। दुनिया का इतिहास (जिसमें भारत भी शामिल है) हमें बताता है कि उपनिवेशवाद या परतंत्रता की शुरुआत हमेशा बाजार के दरवाजे से राज्य में होती है।

हम सभी जानते हैं कि विकास की कभी भी एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं रही है, हमेशा इस पर विवाद या बहस होती रही है। विकास का सीधा जुड़ाव नजरिये या दृष्टिकोण से है। समाज जितने हिस्सों (जैसे— दलित, आदिवासी, जेंडर, अमीर—गरीब, शहरी—ग्रामीण, बच्चे, शिक्षा, साम्प्रदायिकता आदि) बंटा हुआ है उतने ही नजरिये से विकास की परिभाषा की व्याख्या की जाती है। दलित समुदाय के लिये सम्मान और समता विकास है तो आदिवासी के लिये प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण या अधिकार ही विकास है। विकास की परिभाषा के इसी बिखराव के बीच से भूमण्डलीकरण अपना रास्ता निकालता है। समाज के संकटों का हल जब सामान्यतः नहीं निकल पाता है तो हम किसी निष्पक्ष निर्णायक (न्यायाधीश) की जरूरत महसूस करते हैं। संकट बढ़ता जाता है, विवाद गहराता जाता है तो यह जरूरत भी बढ़ती जाती है। इस पूरी स्थिति को बाजार कहीं दूर खड़ा देखता रहता है उसका विश्लेषण करता रहता है। जब गरीबी और असमता चरम पर पहुंचती है तब भूमण्डलीकरण के सिद्धान्तकार यह सिद्धान्त लेकर सामने आते हैं कि बिखराव और टूटन का कारण कुछ भी हों परन्तु इसका इलाज बाजार के पास है। बाजार कोई भेद नहीं मानता है, दलित उसके लिये अस्पृश्य नहीं है, बच्चों के कुपोषण को मिटाने के लिये डिब्बा बंद इलाज भी उसके पास है। संकट में फंसा समाज इसे सबसे अच्छा विकल्प मान लेता है। और यहीं से उसे सामाजिक मान्यता भी मिलती है।

वास्तव में भूमण्डलीकरण केवल आर्थिक लाभ कमाने का लक्ष्य लेकर चलने वाली प्रक्रिया नहीं है बल्कि वह संसाधनों के आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्रोतों पर नियंत्रण करने का लक्ष्य लेकर चलने वाली प्रक्रिया है। जब हम यह मानने लगते हैं कि सामाजिक समस्याओं या पिछड़ेपन का इलाज कोई वस्तु है तो इसका मतलब है कि हम उसे अपने व्यवहार का हिस्सा बनाते हैं। जैसे—जैसे वस्तु की महत्ता जीवन में मूल्यों और सिद्धान्तों से ज्यादा होती जाती है तो फिर उसे हासिल करने के लिये पूरी व्यवस्था में बदलाव की जरूरत होती है।

भूमण्डलीकरण में बाजार सबसे पहले समाज की समस्याओं का विश्लेषण करता है और फिर अपनी भूमिका की पहचान करता है। उसका लक्ष्य समस्याओं का हल खोजना नहीं है बल्कि इनका उपयोग करके समाज पर नियंत्रण करना होता है। इस अंतिम लक्ष्य के साथ वह सबसे पहले हमारे बाजार में (जिस बाजार से हमारा रोज का जुड़ाव है) कुछ वस्तुयें उतारता है। चूंकि बाजार में कुछ उत्पाद पहले से मौजूद हैं अतः अपना स्थान बनाने के लिये वह उत्पाद के रूप, रंग और चरित्र में बदलाव करके अलग दिखाने की कोशिश करता है। बाजार में वस्तुयें दो तरह से आती हैं — एक तो लोगों की जरूरत को पूरा करने के लिये और दूसरे लोगों में जरूरत को पैदा करने के लिये।

सबसे पहले वस्तु के प्रवेश के साथ कुछ नई जरूरतें भी हमारे जीवन में प्रवेश करती हैं। उत्पाद के पारम्परिक रूप में बदलाव किया जाता है और इस बदलाव के साथ नई तकनीक भी समाज में प्रवेश करती है। भूमण्डलीकरण इस तर्क के साथ सामने आता है कि कोई भी तकनीक किसी एक राज्य या समाज के दायरे में सीमित नहीं रहना चाहिये क्योंकि इस तरह की सीमाओं से लोग अधिकारों का उपयोग नहीं कर पाते हैं। इस तरह जरूरतों को पूरा करने के लिये नई तकनीक समाज में आती है और बाजार में वही तकनीक टिक पाती है जो फायदे और बाजार का विस्तार करती है। तकनीक का मकसद केवल उत्पादन बढ़ाना नहीं होता है। बल्कि समाज की उपभोग करने की प्रवृत्ति को भी बदलना होता है। बिना व्यवहार में बदलाव लाये वस्तु और तकनीक को टिकाऊ नहीं बनाया जा सकता है। जैसे कि हम यह मानते हैं कि भूमण्डलीकरण राज, समाज और अर्थसत्ता पर नियंत्रण करने के लिये एक खास वर्ग के द्वारा चलाई गई प्रक्रिया है, तो इसका मतलब है कि व्यवहार में बदलाव लाने के बाद वह सामाजिक सिद्धान्तों और फिर संस्कृति की संरचना में बदलाव लाने का लक्ष्य रखता है। समाज पर व्यापक प्रभाव छोड़ने के लिये सांस्कृतिक मुद्दों को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता है।

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि भूमण्डलीकरण का मतलब केवल व्यापार से नहीं है बल्कि यह सामाजिक और राजनैतिक सत्ता पर काबिज होने का भी लक्ष्य साधे हुये है। भूमण्डलीकरण के इस खेल में विकसित देश – खास तौर पर अमेरिका और यूरोपीय देश सबसे अहम खिलाड़ी रहे हैं। इन देशों ने यह प्रक्रिया प्रत्यक्ष रूप से आगे नहीं बढ़ाई बल्कि अलग-अलग स्तरों पर अलग-अलग मोहरों को इस प्रक्रिया का हिस्सा बनाया है। भूमण्डलीकरण में तीन अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की भूमिका को सबसे अहम माना जाता है। इन तीनों संस्थानों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये माहौल बनाने, राज्यों की नीतियों – कानूनों को बदलवाने और दबाव बनाने के लिये आर्थिक संसाधनों का उपयोग करने का दायित्व बखूबी निभाया है ये तीन संस्थान हैं –

1. विश्व बैंक
2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और
3. एशियाई विकास बैंक

इस तीनों अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों की वैश्वीकरण में भूमिका को हमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझना होगा। आज जब भी भूमण्डलीकरण या विश्व व्यापार संगठन पर चर्चा या बहस होती है तो उस बहस का स्वाभाविक हिस्सा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान होते हैं। यह कहना शायद गलत नहीं है कि ये संस्थान ही भूमण्डलीकरण के ध्वज वाहक बने हैं और इनकी ताकत कितनी है यही हमें जानना भी चाहिये।

भारत एक स्वतंत्र गणतांत्रिक राज्य है जो एक जनकल्याणकारी राज्य की स्थापना का उद्देश्य लेकर चल रहा है। राज्य की व्यवस्था भारत के संविधान के तहत संचालित होती है। हमारे देश की सरकारी व्यवस्था में बहुत स्पष्ट रूप से तय है कि अलग-अलग मंत्रालय और विभाग अपनी-अपनी निश्चित भूमिकायें निभायेंगे। और भूमण्डलीकरण के प्रभाव को सबसे पहले यहीं मापा जा सकता है। भारत का वित्त मंत्रालय यह सुनिश्चित करता है कि राज्य की व्यवस्था को संचालित करने, विकास और प्रगति को लोकोन्मुखी बनाने और राष्ट्र को सशक्त बनाने के लिये आर्थिक जरूरतें क्या होंगी और उन्हें कैसे पूरा किया जायेगा। स्वाभाविक है कि इस मंत्रालय की प्राथमिकता देश, लोक और तंत्र की जरूरत के अनुरूप काम करना है परन्तु अब व्यवस्था बदल रही है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में भारत के वित्त विभाग में एक अलग ऐसा उप-विभाग है जिसका काम केवल अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के साथ संवाद और समन्वय स्थापित करना है। इस उप-विभाग में 23 वरिष्ठ अफसर काम करते हैं। इस उपविभाग में काम करने के लिये अफसरों के बीच अच्छी खासी प्रतिस्पर्धा होती है क्योंकि इसके अगले चरण में उनके पास विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और एशियाई विकास बैंक में प्रतिनियुक्ति पर जाने या वहां सलाहकार बनने के रास्ते खुलते नजर आते हैं।

वित्त विभाग के बाद भारत के योजना आयोग के दफ्तर में भी इन संस्थानों को विशेष दर्जा देते हुये कार्यालय उपलब्ध कराया गया है। भारत की नीति बनाने वाले वरिष्ठ अफसर यह मानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों के दफ्तर *ज्ञान का पुंज* होते हैं और वहां प्रवेश करते ही विशेष अनुभूतियां होती हैं। इन संस्थानों की व्यापक सोच, तथ्य और आंकड़े और विश्लेषण उन्हें अद्भुत नजर आते हैं। जिनके सामने देशज ज्ञान और विश्लेषण पूरी तरह से गौण हो चुके हैं। विश्व बैंक जैसे समूहों ने अपने विश्लेषण से यह जरूर जान लिया है कि

यदि भारत पर प्रभाव डालना है तो नीति बनाने वालों को अपने दायरे में लाना होगा। तब मौके-मौके पर प्रशिक्षणों के बहाने अफसरों का मानस बदलने का काम किया गया। यही कारण है कि विश्व बैंक की वन नीति के सामने उन्हें आदिवासियों के जंगल पर अधिकारों का संघर्ष बेमानी नजर आता है। ऐसा नहीं है कि विश्व बैंक ने भारत को बहुत भारी – भरकम कर्ज के तले दबा लिया है, बैंक ने कुल 14 बिलियन डालर का कर्ज भारत को दिया है यानी प्रतिव्यक्ति केवल 14 डालर की राशि। इसके बावजूद सपने बेंच-बेंच कर विश्व बैंक ने भारत की प्रशासनिक सत्ता को अपने नियंत्रण में ले लिया क्योंकि यही सबसे कमजोर कड़ी भी रही है।

vUrjk'Vh; foRrh; l lFkkuks dh , frngfl d ; k=k

1940 dk n'kd % हम सभी जानते हैं कि 1939 से शुरू हुये दूसरे विश्वयुद्ध ने दुनिया को बहुत सारे झटके और स्थाई समस्यायें दी है। पहले तो युद्ध हुआ सत्ता और ताकत की खातिर और फिर जब युद्ध खत्म हुआ तो यह सवाल सामने खड़ा हुआ कि बर्बाद हो चुके यूरोप का फिर से कैसे खड़ा किया जाये। यहां यूरोप के पुर्ननिर्माण की जरूरत सामने आई। ऐसे में वर्ष 1944-46 में यूरोप के पुर्ननिर्माण के काम को आगे बढ़ाने के लिये विश्व बैंक की स्थापना हुई। धीरे-धीरे विश्व बैंक एक स्वीकार्य अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थान के रूप में स्थापित होने लगा। तब विश्व बैंक की छवि में अमेरिका को अपना भविष्य नजर आया ।

1950 dk n'kd % अमेरिका ने विश्व बैंक को यूरोप सहित अन्य देशों में विकास और पुर्ननिर्माण के कार्य को आगे बढ़ाने के लिये द्विपक्षीय आर्थिक सहयोग देना शुरू किया । इस आर्थिक सहयोग से (यह अनुदान नहीं बल्कि उदार कर्ज था) उसका विश्व बैंक पर प्रभुत्व स्थापित होना शुरू हो गया। यहां अमेरिका का मकसद यह था कि शीत युद्ध के दौरान विश्व बैंक उसके पक्ष में खड़ा हो। और यही हुआ भी। 1950 के दशक में ही यह तय हो गया कि विश्व बैंक का अध्यक्ष हमेशा कोई अमेरिकी व्यक्ति ही बनेगा। चूंकि इस संस्थान में प्रभावशाली यूरोपीय देशों का भी दखल था इसलिये अध्यक्षता के मामले में यह तय हुआ कि यूरोपीय व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का अध्यक्ष हो सकता है।

1960 dk n'kd % इन दस सालों में विकसित देशों के दायरे के बाहर एशिया क्षेत्र में जापान ने अपने हित खोजने शुरू किये। यह हम जानते हैं कि विश्व बैंक की स्थापना विश्वयुद्ध के नुकसान को पूरा करने के लिये हुई थी परन्तु सभी देशों को इसका लाभ नहीं मिला। तब जापान ने यह सवाल खड़ा किया यदि सबसे ज्यादा नुकसान किसी देश का हुआ था तो वह जापान था क्योंकि यह परमाणु बम के हमले का शिकार था परन्तु विश्व बैंक में उसकी हिस्सेदारी नहीं है। जापान के सवालों से एक बहस शुरू हुई परन्तु अमीर देश विश्व बैंक में किसी को हिस्सेदारी नहीं देना चाहते थे इसलिये एशियाई विकास बैंक की स्थापना का निर्णय लिया गया। इसका मतलब यह है कि 1964 की स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थानों पर तीन ताकतवर मूर्तियों – अमेरिका, यूरोप और जापान का कब्जा हो गया। वास्तव में औद्योगिकीकरण और मशीनीकरण के कारण पर्यावरण को हो रहे नुकसान का विषय अब विवाद का रूप भी लेने लगा था ।

1970 dk n'kd % इस दशक के दौरान सामाजिक विकास की परिभाषाओं पर बहस शुरू हुई। वास्तव में संसाधनों पर नियंत्रण के जरिये विकसित देश जिस उपनिवेशवाद को आगे बढ़ाना चाहते थे उससे राजनैतिक, सामाजिक संघर्ष शुरू होने की संभावना थी । हालांकि तब देश (खासतौर पर भारत जैसे) गरीब तो थे परन्तु राजनैतिक रूप से कमजोर नहीं थे इसलिए अमेरिका या यूरोप विकासशील देशों के संसाधनों पर सीधे-सीधे कब्जा नहीं जमा पा रहे थे। ऐसे में नीति पुर्ननिर्माण (Policy Reform) की अवधारणा ने जड़े पकड़ना शुरू किया और नीति पुर्ननिर्माण में यही मूल मंत्र दिया गया कि खुले बाजार की नीति ही गरीबी मिटा सकती है।

1980 dk n'kd % पिछले दशक में गरीबी की विकराल समस्या को विकास की प्रक्रिया में सबसे बड़ी बाधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया था, और समाधान निकला था खुले बाजार की नीति के रूप में। विकसित देश विकासशील देशों का ठोस विश्लेषण कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हर परिस्थिति में भारत, चीन और ब्राजील

दुनिया के सबसे बड़े बाजार है। इसलिये यहां विकास और औद्योगिकीकरण के नाम पर दखलदांजी शुरू हो गई। भारत पर अमेरिका ने सीधे-सीधे दबाव नहीं डाला पर भारत के बाजार में नये-नये उत्पादों को प्रवेश दिला कर नरम उदारवादी प्रक्रिया शुरू करवा दी। अब बाजार में नये टूथपेस्ट, साबुन और क्रीम आने लगे। विश्व व्यापार संगठन के रूप में भूमण्डलीकरण ठोस रूप से सामने आया।

1990 dk n'kd % यह एक ऐतिहासिक दशक बन गया क्योंकि यहां प्रत्यक्ष रूप से उदारवाद और भूमण्डलीकरण की नीति को सरकार ने अपना लिया। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भारत के संकट का उपयोग कर व्यवस्था को अपने प्रभाव में ले लिया। देश की लगभग हर नीति और हर क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये खुलने लगा। आयात-निर्यात शुल्क कम हुये, मानकों में बदलाव हुआ, सरकार का नियंत्रण व्यवस्था पर से कम हुआ। इस दशक में केवल उद्योग नहीं बल्कि बुनियादी जरूरतों (जैसे- पानी, कृषि, ऊर्जा आदि) का भी निजीकरण होना शुरू हुआ बल्कि सेवाओं का भी बाजारीकरण हुआ। कुल मिलाकर आर्थिक विकास सामाजिक विकास पर हावी हो गया और विकास की परिभाषा में से समुदाय की भूमिका – निर्णय का स्थान खत्म हो गया। अब बाजार समुदाय के मानस पर पूरी तरह से हावी हो गया। अब विज्ञापन तय करने लगे कि व्यक्ति कौन सा मंजन करेगा, किस साबुन से नहायेगा, कौन सी बनियान पहनेगा और कौन सा कण्डोम इस्तेमाल करेगा।

2000 dk n'kd % भूमण्डलीकरण के दौर में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने पहचान लिया कि जंगल, जमीन, पानी सबसे धनी संसाधन हैं और इन पर सीधे-सीधे नियंत्रण नहीं किया जा सकता है इसलिये सुधार की प्रक्रिया के नाम पर इन्हें विकास के साथ जोड़ा गया। सबसे स्पष्ट उदाहरण है मिलेनियम डेवलपमेंट गोल्स, ये लक्ष्य विश्वबैंक की मंशा पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने तय किये। इस दशक की सबसे खास बात यह है कि वित्तीय संस्थानों ने विकास संस्थानों के जरिये काम करने की रणनीति अपनाई। साथ ही अब यह विश्वास दिला दिया गया कि हर सेवा और हर अधिकार का संस्थानिकीकरण (Institutionalisation) जरूरी है। भारत में पहले से संविधान और कानून के अन्तर्गत चल रहे संस्थानों के समानांतर नये संस्थान खड़े करने की प्रक्रिया शुरू की गई।

Post Comments